

॥ श्री स्वामिनारायणो विजयते ॥

सत्संग शिक्षणश्रेणी की पाठ्यपुस्तक : 7

सत्संग वाचनमाला

(भाग पहला)

लेखक

साधु ईश्वरचरणदास



प्रकाशक

स्वामिनारायण अक्षरपीठ

शाहीबाग, अहमदाबाद - 380 004.

SATSANG VACHANMALA, PART-1 (Hindi Edition)

(Life sketches of prominent devotees of Bhagwan Swaminarayan)

By Sadhu Ishwarachandas

A textbook for examination prescribed under the curriculum set by
Bochasanwasi Shri Akshar Purushottam Swaminarayan Sanstha.**Inspirer:** HDH Pramukh Swami Maharaj**Presented by:**Bochasanwasi Shri Akshar Purushottam Swaminarayan Sanstha
'Swaminarayan Akshardham', N.H. 24, Akshardham Setu,
Yamuna Kinara, New Delhi - 110 092. India.**Publishers:**SWAMINARAYAN AKSHARPITH
Shahibaug, Amdavad - 380 004. India.**..th Edition:**

January 2009. Copies:, (Total Copies:,)

Warning:**Copyright:** ©Swaminarayan AksharpithThis book is published by Swaminarayan Aksharpith. Material
from this book cannot be used without due acknowledgement to
Swaminarayan Aksharpith, Shahibaug, Amdavad. For any
reprints the written permission of the publishers is necessary.**ISBN:****रज्जूकर्ता :** बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था (बी.ए.पी.एस.)
'स्वामिनारायण अक्षरधाम', नेशनल हाईवे 24, अक्षरधाम सेतु,
यमुना किनारा, नई दिल्ली - 110 092.**प्रेरणामूर्ति :** प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज**सूचना :** सर्वाधिकार सुरक्षित : © स्वामिनारायण अक्षरपीठइस पुस्तक के अंश किसी भी स्वरूप में प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक की
लिखित सम्मति अनिवार्य है।**.. संस्करण :** जनवरी, 2009**प्रति :**, (कुल प्रति :,)**मूल्य :** रु.**मुद्रक एवं प्रकाशक :**

स्वामिनारायण अक्षरपीठ

शाहीबाग, अहमदाबाद-380 004.

कृपाकथन

ब्रह्मस्वरूप स्वामीश्री योगीजी महाराज द्वारा स्थापित व पोषित युवक प्रवृत्ति तीव्र गति से विस्तृत होती जा रही है। इस प्रवृत्ति से जुड़े युवाओं की आकांक्षा तथा ज्ञानपिपासा को संतुष्ट करने तथा उन्हें भगवान स्वामिनारायण प्रबोधित अक्षरपुरुषोत्तम के सिद्धांत की ओर अभिमुख करने के उद्देश्य से बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था ने क्रमबद्ध पुस्तकों के प्रकाशन का आयोजन किया है।

इन पुस्तकों द्वारा बालकों और युवाओं को व्यवस्थित, सुगम तथा सरल ढंग से सत्संग का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। भगवान स्वामिनारायण द्वारा उद्बोधित आदर्शों के पालन व प्रचार के लिए ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज द्वारा स्थापित यह संस्था, इस प्रकार की अनेक सत्संग प्रवृत्तियों में संलग्न है कि जिससे विश्व में हमारी महान हिन्दू संस्कृति का प्रचार व प्रसार हो।

भगवान स्वामिनारायण का दिव्य संदेश विश्व के कोने-कोने में प्रसारित हो तथा सभी मुमुक्षुओं को शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो इसी हेतु इन पुस्तकों का भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशन किया गया है।

इन पुस्तिकाओं के आधार पर सत्संग शिक्षण परीक्षाएँ आयोजित की जाएँगी साथ ही बालकों-युवकों को प्रमाणपत्र देकर प्रोत्साहित किया जाएगा। इस पुस्तकों को तैयार करने में ईश्वरचरण स्वामी, रमेशभाई दवे, किशोरभाई दवे तथा अन्य सहयोगियों ने भारी परिश्रम उठाया है, उनको हमारे आशीर्वाद हैं।

अत्यंत स्नेहपूर्वक

जय श्री स्वामिनारायण।

शास्त्री नारायणस्वरूपदासजी

(प्रमुखस्वामी महाराज)

निवेदन

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान स्वामिनारायण अपने प्रियभक्त अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी के साथ इस ब्रह्मांड में पधारे। सद्गुरु गोपालानन्द स्वामी, सद्गुरु मुक्तानन्द स्वामी, सद्गुरु निष्कुलानन्द स्वामी, सद्गुरु नित्यानन्द स्वामी, मुकुन्द ब्रह्मचारी, दादाखाचर, पर्वतभाई, गोवर्धनभाई, लाडुबाई, जीवुबाई आदि अक्षर मुक्तों को भी वे अपने साथ लेकर पधारे।

इन महासमर्थ मुक्तों के चरित्र भी अद्भुत एवं प्रेरणादायी हैं। भगवान स्वामिनारायण के प्रति उनकी निष्ठा एवं भक्ति अनन्य थी। श्रीहरि ने उनकी सामर्थ्य तथा उनकी विशेषताएँ छिपा कर रखी थी। फिर भी प्रसंगवश कभी-कभी व्यक्त हुई उनकी विशेषता कम आश्चर्यजनक नहीं है।

इन मुक्तों का जीवन-चरित्र अत्यधिक प्रेरक होने के कारण 'सत्संग वाचनमाला' नामक इस पुस्तिका में उनके चरित्रों का संकलन किया गया है। इसी परंपरा में आनेवाले अनन्य भक्तों के चरित्रों का समावेश इस पुस्तिका में किया गया है।

ऐसे चरित्रों की और पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें विशिष्ट मुक्तात्माओं के चरित्रों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सत्संग परीक्षाओं के अभ्यासक्रम के अंतर्गत तैयार की गई पुस्तिकाओं में द्वितीय स्तर की परीक्षा 'सत्संग प्रवेश' के नाम से ली जाएगी। उक्त परीक्षा के लिए यह पुस्तिका हम आप के हाथों में रखते हुए अत्यंत ही आनंदित हैं।

श्रीहरि, गुणातीतानंद स्वामी एवं प्रकट गुरुहरि श्री प्रमुखस्वामी महाराज की प्रसन्नता के लिए, सत्संगी किशोर इस अभ्यासक्रम को तैयार करें, सत्संगज्ञान की परीक्षाएँ दें और सफलता पाकर उच्च स्तरीय प्रमाणपत्र प्राप्त करें, यही शुभ कामना और अभ्यर्थना के साथ प्रस्तुत चरित्र पुस्तिका आप के हाथों में समर्पित करते हैं।

- प्रयोजक

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयते ॥



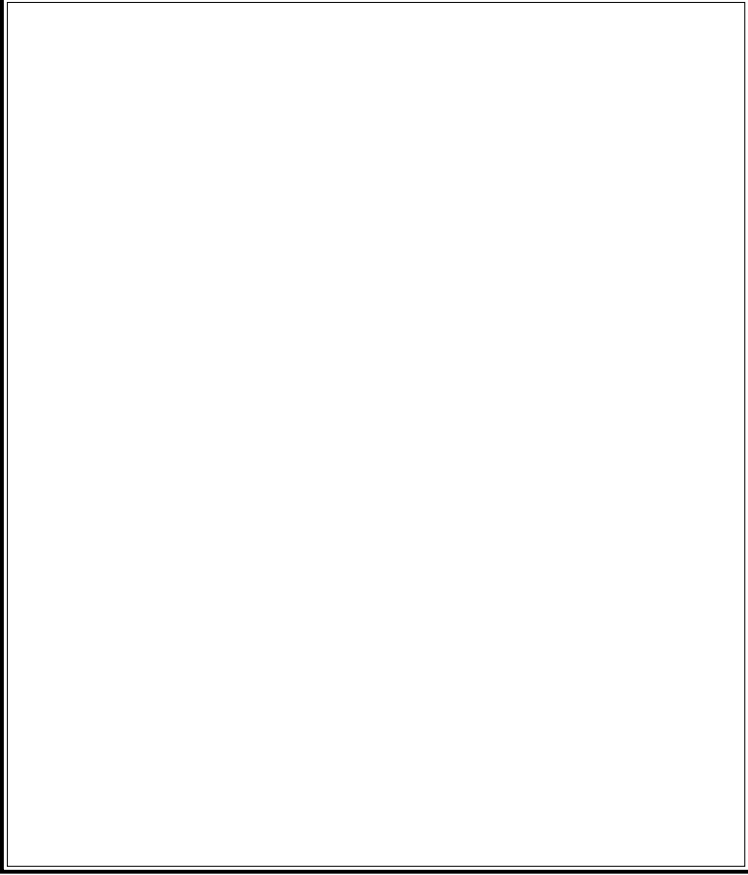
ठम अभी स्वामी के बालक, मनेंगे स्वामी के लिए ।
 ठम अभी श्रीजी के युवक, लड़ेगे श्रीजी के लिए ॥
 नहीं डरते नहीं करते, ठमानी जान की पत्रवाठ ।
 ठमें है भय नहीं किन्नीये, जन्मे हैं मृत्यु के लिए ॥
 ठमने है यज्ञ आरंभा, अदा बलिदान ठम देंगे ।
 ठमना अक्षयपुरुषोत्तम, गुणातीत गान के लिए ॥
 ठम अभी श्रीजी की अंतान, अक्षय में वाच ठमना है ।
 स्वधर्मी भभूत नमाई है, अब ठमें शर्म किन्नके लिए ॥
 मिले हैं मोती-ये स्वामी, दुए ठम पूर्णकाम अभी ।
 प्रगट पुरुषोत्तम पाये, अंत ये मुक्ति के लिए ॥

क्रमिका

1. सद्गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी..... 1
2. सद्गुरु देवानन्द स्वामी..... 17
3. सद्गुरु शुकानन्द स्वामी 23
4. भक्तराज दरबार श्री झीणाभाई 31
5. भक्तराज जोबनपगी 41
6. भक्तिमती जीवुबाई 47
7. स्वामी निर्गुणदासजी 53
8. स्वामी यज्ञप्रियदासजी 65

सत्यंग वाचनमाला

भाग पहला



सद्गुरु ब्रह्मानंद स्वामी

सद्गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी

राजस्थान के सिरोही स्टेट के महाराजा की राज्यसभा खचाखच भरी हुई थी। कारण था, बालकवि लाडुदान की स्वरचित कविता की असाधारण प्रस्तुति। इस बालकवि की अद्भुत वाक्छटा एवं स्वर-सरस्वती का लाभ लेने वाले काव्यप्रेमियों ने प्रत्येक प्रस्तुति को तालियों की गड़गड़ाहट के साथ बार-बार बधाई दी।

एक कवि ने उठकर काव्य की एक अधूरी पंक्ति प्रस्तुत की। बालकवि को अपनी कविता में उस पंक्ति को जोड़कर शीघ्र रचना सुनानी थी। लाडुदान ने पल भर में कविता की रचना की और उस पंक्ति को सहज ही अपने काव्य में पिरो दिया। वीर रस का वह पद्य, वे ओजस्वी वाणी में बोलते गए। काव्य के समस्त गुण उनके पद्य में विद्यमान थे। प्रत्येक श्रोता लाडुदानजी की काव्यकला और कुशाग्र बुद्धि से आश्चर्यचकित था। काव्यप्रेमियों ने फिर एकबार इस बाल कवि को बधाई दी।

उनकी प्रतिभा को देखकर सिरोही महाराजा के हृदय में अचानक एक विचार बिजली की भाँति कौंधा कि ऐसे अमूल्य बाल रत्न का प्रकाश सर्वत्र प्रसारित हो, तब तो कितना महान कार्य होगा!

माता लालुबाई और पिता शम्भुदानजी को प्रभु ने स्वप्न में प्रेरणा दी थी कि बालक को अधिक अध्ययन के लिए दूर तक भेजने के लिए तैयार रहें। इसीलिए दोनों की सहमति पर राजा ने लाडुदानजी को गुजरात में कच्छ-भुज की पिंगल पाठशाला में विशेष अध्ययन के लिए भेजा। आगे चलकर यही लाडुदान बारोट, दीक्षा के बाद 'स्वामी ब्रह्मानंदजी' के नाम से सुप्रसिद्ध हुए।

कच्छ जाने के लिए एक ब्राह्मण का साथ मिल गया। लाडुदानजी सबके आशीर्वाद लेकर पिंगलशास्त्र के अभ्यास के लिए भुज (कच्छ) आकर बस गए।

राजस्थान के सिरोही तहसील के खाण गाँव में संवत् 1828 की वसन्तपंचमी के दिन प्रकट हुए ये कवि तरुण अवस्था में कच्छ के राव (महाराजा) के अतिथि हुए।

उनकी तेजस्विता देखकर पिंगल शास्त्र के गुरु अभयदानजी बहुत प्रसन्न हुए। दस साल तक लाडुदानजी पिंगलशास्त्र और अन्य शास्त्रीय विषयों में प्रवीण होते रहे। सूक्ष्म बुद्धि और अद्भुत स्मरण-शक्ति के कारण वे गुरु की प्रत्येक परीक्षा में पार उतरते गए। शिक्षा समाप्ति के बाद कच्छ के राव ने राजदरबार में उनकी विद्या का परिक्षण किया है और विपुल मात्रा में वस्त्राभूषण देकर उन्हें पुरस्कृत किया। राजकविरत्न, पिंगलविद्याचार्य, महा-महोपाध्याय, महाकवीश्वर, शतावधानी आदि पदवियों के प्रमाणपत्र से अलंकृत करके उन्होंने निर्देश दिया कि आप हमारे राज्य में राजकवि के पद पर बिराजमान हों। परंतु लाडुदानजी की तीव्र इच्छा थी कि वे अपने वतन वापस लौटें। उन्होंने कच्छ के महाराजा का ऋण स्वीकार करके कच्छ से बिदा ली।

रास्ते में 'धमड़का' गाँव में वे कुछ समय तक ठहरे और विप्र भट्टाचार्य से संस्कृत तथा संगीत का प्रशिक्षण लिया। यहीं उनको रामानन्द स्वामी का दर्शनलाभ प्राप्त हुआ। उनके आशीर्वाद प्राप्त करके वे ध्रांगध्रा, जामनगर, द्वारिका, जूनागढ़ आदि राज्यों में पधारे। जहाँ अपनी विद्या के कारण उनकी अत्यंत प्रसिद्धि हुई। राजाओं ने उनको उत्तम प्रकार की भेंट-सौगात तथा आभूषण आदि देकर बहुत सन्मानित किया।

अंत में वे भावनगर के राजभवन में आ पहुँचे। महाराज विजयसिंह (वज्रेसिंह) के सभासदों के सामने लाडुदानजी की वाग्धारा ने ऐसा कमाल किया कि लोग उनको सुनकर धन्य होने लगे। प्रसन्न होकर महाराज ने कविश्री को स्वर्णाभूषणों से विभूषित करने का निश्चय किया। उन्होंने तुरंत अपने राज्य के श्रेष्ठ स्वर्णकार को राजदरबार में बुलाया। जिस समय वह स्वर्णकार, कविश्री के हाथ-पैर तथा भुजाओं की नाप ले रहा था, उस समय उसके ललाट पर सुशोभित गोपीचन्दन का तिलक तथा मध्य में कुमकुम का सुहावना टीका देखकर लाडुदानजी के मन में एक मज्जाक सूझा।

उन्होंने इस विषय में जब स्वर्णकार से पूछताछ की, तो बीच में ही बोल पड़े कि ठीक है, मेरे मन का संदेह अब आपको ही दूर करना है। बात यह है कि मेरे राज्य में गढ़डा नामक एक गाँव है। वहाँ एक स्वामिनारायण आकर बिराजमान हैं। लोग उनको भगवान मानकर आदर-सत्कार करते हैं; किन्तु मेरे मन में दुविधा है। इस कलियुग में भगवान का प्रकट होना, क्या

संभव है? मुझे तो कभी-कभी गप्प-सा लगता है, फिर भी आप जाकर उनकी परीक्षा कर सकते हैं।’

महाराजा की बात सुनकर, अपने यौवन, विद्या तथा यश के अभिमान में चूर होकर लाडूदानजी, भगवान पुरुषोत्तमनारायण की परीक्षा लेने के लिए गढ़डा के लिए प्रस्थान कर गए।

गढ़पुर जाते हुए मार्ग में उनके अंतर्मन में भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क उठने लगे। वे सोचते थे कि ‘कदाचित् वे स्वयं भगवान हुए, तो मैं क्या करूँगा?’

उन्होंने मन ही मन चार संकल्प किए और सोचा कि यदि मेरी चार इच्छाएँ स्वामिनारायण भगवान के पास पूर्ण हो जाएँगी, तो मैं मान लूँगा कि वास्तव में वे परमात्मा हैं। उनके चार संकल्प इस प्रकार थे :

1. स्वयं पहना हुआ गुलाब का हार मुझे पहनाएँ तथा मेरा नाम लेकर बुलाएँ।
2. अपने दोनों चरणारविन्दों में 16 दिव्य चिह्नों का दर्शन कराएँ।
3. मेरा परिचय स्वयं बतलाएँ तथा -
4. मैं जब उनसे मिलूँ, उस समय वे काले वस्त्र में लपेटा हुआ भागवत का ग्रंथ पढ़ रहे हों।

अब वे निश्चिंत थे। गढ़पुर में प्रवेश करते ही कवि के मन में परम शान्ति का अनुभव होने लगा। भगवान स्वामिनारायण, दादाखाचर के राजभवन के चौक में नीम के वृक्ष तले सन्तों-हरिभक्तों की सभा में बिराजमान थे। गले में गुलाबों की पुष्पमाला शोभायमान थी। उनके सामने काले ऊन के कम्बल पर श्रीमद्भागवत का ग्रंथ रखा हुआ था। लाडूदानजी के दरबार में प्रवेश करते ही, श्रीहरि ने उनका नाम लेकर बुलाया और अपने गले में से गुलाब का हार निकालकर उनको पहना दिया। बातों ही बातों में श्रीहरि ने कविराज को उनके पूर्वजीवन का इतिहास कह दिया। कुछ क्षणों के बाद जब वे अपने पाँव फैलाए, तो उनके चरणों में सोलह दिव्य चिह्नों के दर्शन करके, कवि लाडूदान के आनन्द की सीमा न रही! उनके चारों संकल्प चंद पलों में ही पूर्ण हो गए। उनका हृदय गद्गद हो उठा, हृदय के भाव कविता बनकर बहने लगे -

‘धन्य आजनी घडी रे, धन्य आजनी घडी;
 में निरख्या सहजानन्द धन्य आजनी घडी । धन्य.
 ज्ञानकूँची गुरुगम से, गयां तालां ऊघडी;
 लाडु सहजानन्द निहालताँ ठरी आँखड़ीं रे ॥ धन्य.’

आज कवि के हृदयद्वार खुल गए, प्रभु की दृष्टि से उनकी दृष्टि एक हो गई। फलस्वरूप उनको समाधि लग गई। उनके मामा भी साथ में थे, वे तो यह सब देखकर घबड़ा गए। वे प्रभु को उलाहना दे रहे थे कि तुरंत उनको भी समाधि लग गई। सारे सभाजन यह देखकर चकित हो रहे थे।

कभी न देखा हुआ प्रकाश, चारों ओर दिख रहा था। ठीक मध्य में श्रीहरि की मनोहर मूर्ति शोभायमान थी। सारे अवतार भगवान स्वामिनारायण के सामने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति कर रहे थे। ऐसा अलौकिक दृश्य देखकर कवि का हृदय आनंद से भर उठा और आँखों से हर्षाश्रु बहने लगे। उन्होंने प्रभु के चरण पकड़ लिए और जीवनभर के लिए उनके चरणों की भक्ति माँगने लगे।

जिस प्रकार नमक की पुतली समुद्र के पानी की थाह लेने गई, तो पानी में ही समा गई, वैसे ही लाडुदानजी, श्रीजीमहाराज की कसौटी लेने गए और उन्हीं की मूर्ति में समा गए। अब वे राजकवि न रहकर श्रीहरि के सेवक बन गए।

एक दिन श्रीहरि ने उनको कहा, ‘कविराज, दादाखाचर की ये दो बहनें लाडुबाई और जीवुबाई गृहस्थाश्रमी होने पर भी त्यागियों के नियमों का पालन करती हैं, अतः जगत में हमारी निन्दा होती है। आप जाकर उन्हें समझाइये कि वे अपनी ससुराल जाकर रहें।’

दोनों बहनें वास्तव में ऐसी तपस्विनी थीं कि वे किसी पुरुष का मुँह तक नहीं देखती थीं। इसलिए बीच में पर्दा डालकर कविराज दोनों बहनों को गृहस्थ-धर्म की बातें समझाने लगे।

कुछ देर तक दोनों बहनें उनकी बातें सुनती रहीं और जब कवि की बातें समाप्त हुई, तो दोनों बहनों ने कहा, ‘कविराज, आप तो जानते हैं कि इस देह की शोभा आत्मा के कारण है। आत्मशक्ति से ही देह चलती-फिरती है, बिना आत्मा के इस देह का कोई मूल्य नहीं। आप अच्छे-अच्छे

वस्त्राभूषण पहनते हैं, युवा हैं, ऐसे में यदि किसी स्त्री का मन आपके रूप में आसक्त हो जाए, तो उसका पाप किसके सिर पर होगा? सोचिए। आप रजोगुण को छोड़कर सात्विक रुचि से प्रभु भजन क्यों नहीं करते?’

दोनों बहनों की दिव्य वाणी से लाडुदानजी के हृदय पर गहरा असर हुआ। वे सीधे महाराज के पास पहुँचे। अपने सारे रजोगुणी वस्त्राभूषण उतारकर उन्होंने श्रीहरि के चरणों में साधु बनने के लिए प्रार्थना की। श्रीहरि ने उनको तुरंत भागवती दीक्षा दी तथा ‘श्रीरंगदास’ नामाभिधान किया।

वे अपनी कवित्व शक्ति एवं विनोदी स्वभाव से श्रीहरि को हमेशा प्रसन्न रखते थे। इसीलिए श्रीहरि उनको हमेशा ‘ब्रह्मानन्द’ कहकर पुकारने लगे।

लाडुदानजी को वहीं छोड़कर, उनके मामाजी लाडुदानजी के वतन में खाण गाँव पहुँचे। उनके मुख से गढ़पुर की सारी बातें सुनकर लाडुदानजी का सारा परिवार गढ़डा आ पहुँचा। श्रीहरि की आज्ञा से ब्रह्मानन्द स्वामी (लाडुदानजी) ने उन सभी को बैठाकर श्रीहरि की अद्भुत महिमा सुनाई। उन्होंने कहा कि जब हमें स्वयं भगवान की प्राप्ति हुई है, तो हमें अपना मनुष्य जीवन सार्थक कर लेना चाहिए। परंतु परिवार के लोग नहीं माने। लाडुदानजी के साथ मन ही मन विवाह रचनेवाली दो कन्याएँ भी उनके परिवार के साथ में थीं। परंतु स्वामी ने उनको भी एक पद-रचना भेजी और लिखा कि -

‘रे सगपण हरिवरनुं साचुं, बीजुं सर्वे क्षणभंगुर काचुं।’

अर्थात् सच्ची सगाई तो एक परमात्मा के साथ ही होनी चाहिए। अन्य संबंध तो कच्चे धागे के समान क्षणभंगुर है।

परिवार के लोग स्वामी के चरणों में बार-बार मिन्नतें करते रहे, परन्तु स्वामी तनिक भी विचलित नहीं हुए।

एकबार तो उनकी परीक्षा करने के लिए श्रीहरि ने भी उनको घर लौटने का आदेश दिया। ब्रह्मानन्दजी पर मानो बिजली टूट पड़ी। वे बेहोश हो गये। परिवार के लोग उनकी त्यागभावना तथा प्रभुभक्ति से प्रभावित हुए। सबके हृदय अब पिघल गए। माता के लाड़-दुलार पूरा करने के लिए श्रीहरि ने सभा में ही ब्रह्मानन्दजी की ‘माँ’ बनने का संकल्प लिया। अपनी प्रसादीरूप दुपट्टा स्वामी की माँ को दिया और प्रसन्न होकर सभी ने बिदाई ली।

ब्रह्मानन्दजी की अद्वितीय बौद्धिकप्रतिभा, उनका ज्ञान और उनकी वाक्छटा से अच्छे-अच्छे विद्वान भी मुग्ध हो जाते थे। वे स्वयं इसको महाराज की कृपा का ही फल मानते थे और उन्हीं की शरण लेते थे। अधिकतर वे विचरण में श्रीहरि के साथ ही रहने लगे।

परन्तु संस्कृत का विशेष अध्ययन करने के लिए महाराज ने उनको सूरत रहने की आज्ञा दी। वहाँ राजमान्य विद्वान् एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा अच्छे वेदान्ती मुनिबावा के पास रहकर वे विशेष शिक्षा पाने लगे। परन्तु मुनि बावा बड़े अभिमानी तथा घमण्डी थे। ब्रह्मानन्द स्वामी ने अपनी विनम्रता एवं तेजस्विता से उनको वश कर लिया था। वे संस्कृत के पारंगत विद्वान बने। उन्होंने गुरु दक्षिणा में श्रीहरि से प्राप्त आत्मा-परमात्मा का यथार्थ सिद्धान्त मुनि बावा को समझाया। श्रीहरि की अपार महिमा कही। फलस्वरूप मुनिबावा के हृदय में ब्रह्म का प्रकाश फैलने लगा। उनके हृदय में श्रीहरि के प्रत्यक्ष दर्शन करने की तीव्र उत्कण्ठा जागने लगी।

मुनिबावा, ब्रह्मानन्दजी के साथ गढ़पुर आ पहुँचे। परन्तु श्रीहरि ने ऐसा मनुष्यचरित्र किया कि मुनिबावा की ओर देखा तक नहीं। मुक्तानन्द स्वामी ने तो श्रीहरि से विनम्र निवेदन भी किया कि 'महाराज! ये सूरत के सम्माननीय विद्वान् मुनिबावा आपसे मिलने आए हैं।'

महाराज ने उनकी ओर देखे बिना ही कहा : 'कौन मुनिबावा?'

यह सुनकर मुनिबावा को बहुत बुरा लगा। वे गढ़पुर छोड़कर तुरन्त सूरत वापस लौटना चाहते थे, परन्तु मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी ने मिलकर उनको समझा-बुझाकर किसी तरह रोक लिया। उन्हें स्वयं का अपमान भूल जाने के लिए दादाखाचर, जीवाखाचर और उनके परिवारवालों के घर धूमधाम से पधरावनी का आयोजन किया गया। नगद रुपयों की भेंट अर्पण की गई। अब वे प्रसन्न दिख रहे थे।

दूसरे दिन वे वासुदेवनारायण की संध्या आरती के लिए दादाखाचर के दरबारभवन में पहुँचे। उस समय श्रीहरि बरामदे में दो खम्भों के बीच में दोनों हाथ पसार कर खड़े थे। उनके पीछे भगुजी थे, जो कि श्रीहरि के आसन पर रखने के लिए एक मन वजन का तकिया (20 किलो) हाथ में लेकर खड़े थे। वे श्रीहरि के हटने की प्रतीक्षा में थे। अचानक श्रीहरि ने उनको देखा, तो पल

भर में उनके हाथों से तकिया लिया तथा पहली उंगली पर तकिये को कुछ देर तक नचाकर इस तरह नीम के पेड़ के नीचे फेंका कि जहाँ पर गद्दी बिछी हुई थी, तकिया बराबर उसी जगह उचित ढंग से स्थित हो गई!

मुनिबावा देखते ही दंग रह गए। क्योंकि उस समय उनको श्रीहरि के स्वरूप में गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ। उनका चित्त आर्द्र हो गया। श्रीहरि के पास आकर वे प्रणाम करके खड़े रहे। श्रीहरि ने उनको अपने पास बैठाया और अपने गले से गुलाब का हार निकालकर मुनिबावा के गले में पहनाकर, उन्हें सम्मानित किया। मुनिबावा प्रसन्न हो गए। गुलाब की सुगन्ध लेते-लेते श्रीहरि की कृपा से उनको समाधि लग गई। समाधि के दिव्य दर्शन से उनके मन में महाराज के सर्वोपरि स्वरूप की निष्ठा हो गई। विनम्र भाव से उन्होंने श्रीहरि के पास दीक्षा के लिए प्रार्थना की। महाराज ने उनको भागवती दीक्षा तो दी, परंतु उनके नाम में कोई परिवर्तन नहीं किया, वे मुनिबावा ही रहे। ब्रह्मानन्द स्वामी ने अपने गुरु को ही सत्संग के रंग में रंग दिया।

श्रीहरि की आज्ञा से दोनों सूरत लौटे। यहाँ सूरत के कोतवाल पद पर कार्यरत पारसी अफसर अरदेशरजी तथा अन्य कर्मचारियों को सत्संग की दृढ़ता करवाई। परिणाम स्वरूप अरदेशरजी ने बड़ी धूमधाम से शहर में श्रीहरि की पधरावनी करवाई। महाराज ने भी प्रसन्न होकर इस पारसी भक्त को अपनी पगड़ी प्रसादी के रूप में अर्पण की। जो आज भी उनके वारिसदारों के घर विद्यमान है।

एकबार श्रीहरि सन्तों-भक्तों के साथ कच्छ पधारे थे। मांडवी गाँव में श्रीहरि के निवास का प्रबन्ध एक खत्री की धर्मशाला में किया गया। परंतु धर्मशाला के मालिक एवं वेदांती विद्वान् खैया खत्री ने व्यवस्थापकों से कहा था कि यदि तुम्हारे भगवान् शास्त्रार्थ में मुझ पर विजयी सिद्ध होंगे, तभी मैं अपनी धर्मशाला में उन्हें निवास करने दूँगा। यह जानकर हरिभक्तों ने श्रीहरि की व्यवस्था अन्यत्र की। जब श्रीहरि मांडवी पधारे और उपरोक्त बात सुनी, तो वे खैया के साथ शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो गए। उस दिन श्रीहरि ने स्वामी ब्रह्मानंदजी को घोड़े पर बैठने का आदेश दिया और कहा कि, 'मैं शास्त्र चर्चा के समय आपको सिंहासन पर बिठाऊँगा और मैं स्वयं नीचे स्थान ग्रहण करूँगा। जब खैया खत्री सभा में आकर प्रश्रोतरी आरंभ करे तब

आप, मुझे दिखाकर कहना कि तुम्हारे वेदांत के प्रश्नों का उत्तर मेरा यह शिष्य देगा। इतना कहकर मेरी ओर संकेत कर देना, बाकी का काम मैं संभाल लूँगा।’

स्वामी को यह बात बड़ी अनुचित लगी, लेकिन महाराज की आज्ञा से उनको ऐसा ही करना पड़ा।

निश्चित समय पर खैया खत्री अपने शिष्यों के साथ सभा में आ पहुँचा। हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले तेजस्वी संत स्वामी ब्रह्मानन्दजी सिंहासन पर बहुत ही शोभायमान दिख रहे थे। खैया ने उन्हीं को स्वामिनारायण भगवान समझकर प्रश्न पूछना शुरू किया।

ब्रह्मानंदजी ने श्रीहरि की आज्ञा के अनुसार नीचे बैठे हुए श्रीहरि की ओर संकेत करते हुए कहा, ‘आपके वेदांत संबंधी प्रश्नों का उत्तर तो मेरा यह शिष्य ही देगा।’

श्रीहरि ने अपनी ओजस्वी वाणी में धाराप्रवाह उत्तर देना आरंभ किया। खैया खत्री यह सुनकर स्तब्ध रह गया। उसके मन में दुविधा होने लगी कि इन दोनों में स्वामिनारायण कौन हो सकता है ?

उस समय उसकी माँ ने दूर ही से कहा : ‘बेटा, यह छोटा साधु ही ब्रह्म है और ऊपर बैठा हुआ बड़ा साधु झूठा है।’

यह सुनकर महाराज हँसने लगे।

ब्रह्मानन्द स्वामी तुरंत पाट से उतर गए और श्रीहरि को बैठा दिया। खैया की भ्रान्ति दूर हुई और वह अपने शिष्यों के साथ श्रीहरि का आश्रित बन गया। कभी-कभी श्रीहरि, ब्रह्मानंद स्वामी को निमित्त बनाकर ऐसे महान कार्य संपन्न करते थे।

जब श्रीहरि ने मन्दिर-निर्माण की सेवा प्रारम्भ की, तो सबसे पहले अहमदाबाद को चुना। यहाँ अंग्रेजों का शासन चल रहा था। ब्रह्मानन्द स्वामी अहमदाबाद पधारे। यहाँ के अंग्रेज अधिकारी जनरल गोर्डन साहब से मिलकर उन्होंने बहुत शीघ्र ही मंदिर-निर्माण के लिए भूमि का संपदान किया। ऐसे व्यावहारिक कार्यों में उनकी कुशलता अद्वितीय थी। उन्होंने मंदिर के लिए ‘यावच्चन्द्रदिवाकरौ’ का लेख तैयार करवाया। कुछ ही समय में मन्दिर निर्माण पूर्ण हुआ। प्रतिष्ठा उत्सव का उत्तरदायित्व भी ब्रह्मानंद

स्वामी ने अत्यंत ही कुशलता पूर्वक निभाया और नरनारायण देव की धूमधाम से मूर्तिप्रतिष्ठा हुई।

बड़े सद्गुरु होने पर भी वे मन्दिरों की छोटी-बड़ी हर प्रकार की सेवा में हाथ बँटाते रहते थे। पत्थर काटना, चूने की चक्की पीसना, नींव खोदना इत्यादि सेवाओं में भी वे उत्साहपूर्वक जुड़ जाते। परन्तु उनकी साहित्य-रचना में कभी भी कोई रुकावट नहीं आती थी। थोड़ा भी अवकाश मिलता, तो वे कलम और कागज़ लेकर बैठ जाते थे।

वड़ताल में मन्दिर निर्माण की आज्ञा देते हुए श्रीहरि ने एक शिखरीय मन्दिर बनाने का आदेश दिया था। परन्तु ब्रह्मानन्दजी ने तो तीन शिखरीय विशाल मन्दिर का काम पूर्णविश्वास के साथ प्रारम्भ कर दिया। चरोतर (गुजरात) की जमीन नरम होने के कारण नींव बहुत गहरी खुदवानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि मन्दिर-निर्माण के लिए तैयार की गई लाखों ईंटें नींव के उपयोग में आ गईं। श्रीहरि ने ब्रह्मानन्दजी को लिखा, 'हमें उतने ही पैर फैलाने चाहिए, जितनी चद्दर लम्बी हो।' अर्थात् अपने सामर्थ्य के अनुसार ही मन्दिर की भव्यता बढ़ानी चाहिए। प्रत्युत्तर में ब्रह्मानन्दजी ने श्रीहरि को लिख भेजा कि -

'साहब सरिखा शेठिया, बसे नगर के माँही ।

ताके धन की क्या कमी, जाकि हुंडी चले नवखण्ड माँही ॥'

अर्थात् आप के समान सेठ बिराजमान है, जिसके नाम की हुंडी धरती के किसी भी कोने में स्वीकार की जाती है, तब आपको धन की क्या कमी हो सकती है?

महाराज यह पढ़कर मुस्कराने लगे। वड़ताल पधार कर उन्होंने सूरत के हरिभक्तों से आर्थिक सेवायें ली, जिससे मंदिर का काम शीघ्र पूर्ण हो गया। श्रीहरि ने वहाँ धूमधाम से लक्ष्मीनारायण देव की प्रतिष्ठा करवाई तथा 'हरिकृष्ण महाराज' के नाम से अपनी मूर्ति की स्थापना भी की।

जूनागढ़ में मन्दिर-निर्माण करना वास्तव में एक चुनौती थी। वहाँ, शैव नागरों का प्रभाव था, जो सरकारी अधिकारी थे और स्वामिनारायण-सत्संग के विरोधी भी थे। इसके अतिरिक्त वहाँ मुस्लिम नवाब का शासन था। ऐसे वातावरण में ब्रह्मानन्द स्वामी को भेजकर श्रीहरि ने सफलता का

परचम लहराया। अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी प्रायः ब्रह्मानंदजी के साथ ही सेवा करते थे। स्वामी ने जूनागढ़ के नवाब तथा नागर ब्राह्मणों को अपने सद्वर्तन एवं अपार प्रतिभा से बहुत प्रभावित किया था। उनको महाराज की महिमा समझाई थी; इसीलिए मन्दिर के काम में बहुत अनुकूलता रही।

मंदिर की मूर्तिप्रतिष्ठा के लिए जब श्रीहरि जूनागढ़ पधारे, तो ब्रह्मानंद स्वामी ने उनके स्वागत के लिए भव्य तैयारियाँ कर रखी थी। परंतु कुछ लोग अब भी द्वेष के कारण जल रहे थे। उन्होंने एक मदोन्मत्त घोड़ा काठी दरबारों की घोड़ियों के बीच भेज कर वहाँ उत्पात मचाना चाहा। परन्तु अश्वविद्या में कुशल ब्रह्मानंदजी के साधुता पूर्ण स्पर्श से वह घोड़ा अत्यन्त शान्त हो गया। ब्रह्मचर्य में उनकी ऐसी सिद्धि देखकर श्रीहरि उनको 'यति' कहते थे।

जूनागढ़ में वेदोक्तविधि पूर्वक राधारमणदेव की प्रतिष्ठा हुई। वहाँ के नवाब ने अपने महल में श्रीहरि तथा सन्तों को निमंत्रित किया। अपने कल्याण के लिए श्रीहरि के चरणों में प्रार्थना की। नवाब की प्रार्थना पर श्रीहरि ने गुणातीतानन्द स्वामी जैसे समर्थ संत को इस मंदिर के महंत के पद पर नियुक्त किया।

महाराज प्रायः सन्तों की परीक्षा किया करते थे। एक बार उन्होंने एक नया नियम जारी किया। वे प्रत्येक सन्त को केवल तीन हाथ लम्बा टाट पहनने का आदेश देते थे। सभी सन्त उनके समीप आकर अपने-अपने टाट के टुकड़े ले गए। जब ब्रह्मानन्द स्वामी आये और उनको भी नियमानुसार तीन हाथ का टाट दिया गया, तो स्वामी बिनती करने लगे कि महाराज, मेरा शरीर स्थूल है, अतः इतना टाट कम पड़ेगा। थोड़ा और लम्बा दीजिए।'

महाराज ने कहा, 'नियम में परिवर्तन नहीं होगा, आप फौरन अपना शरीर घटाइए।'

'लेकिन महाराज, वह एकाएक कैसे कम हो सकता है?' इतना कहकर वे ऊपर-नीचे चारों ओर ताकने लगे।

महाराज ने पूछा : 'आप क्या देख रहे हैं?'

उन्होंने कहा, 'महाराज, देख रहा हूँ कि उंगली भर पृथ्वी में भी आपके अतिरिक्त कोई दूसरा भगवान नहीं दिखाई देता, जिससे की मैं उन्हीं की शरण में चला जाता। इसलिए आपका आश्रय लिए बिना कोई छुटकारा नहीं!'

निष्ठा की ऐसी मिसाल थे स्वामी ब्रह्मानंदजी! महाराज ने प्रसन्न होकर उनको उनके माप का टुकड़ा काट दिया।

एक बार महाराज सभा में बिराजमान थे। रात्रि का समय था। श्रीहरि का नियम था कि सभा में यदि किसी को नींद की झपकी आ जाए, तो उसको बेरखे से अर्थात् बड़े मनकों की छोटी-सी माला फेंककर उसे जगा देते। एकाएक श्रीहरि ने देखा कि ब्रह्मानन्द स्वामी झपकियाँ ले रहे हैं। उन्होंने तुरन्त ही स्वामी के सिर पर माला फेंका। स्वामी चौंककर सावधान हो गए और बेरखा महाराज को लौटा दिया। फिर पूछा, 'महाराज! आपने मुझे बेरखा से क्यों मारा?'

'आप झपकियाँ जो ले रहे थे!' महाराज ने कहा।

'महाराज! मैंने झपकियाँ नहीं लीं। मैं तो भजन बना रहा था।' ब्रह्मानन्द स्वामी ने उत्तर दिया।

उनके शीघ्र उत्तर से श्रीहरि मन ही मन प्रसन्न हुए और बोले : 'तब तो वही भजन सुनाइए, जो आप बना रहे थे!' ब्रह्मानन्द स्वामी ने उसी पल पद-रचना की -

'तारो चटक रंगीलो छेडलो, अलबेला रे !

काई नवल कुसुंबी पाघ, रंगना रेला रे !'

(ओ बाँकेबिहारी! तुम्हारा दामन कितना चमकीला और रंगीन है - कितने अद्भुत कुसुंबी रंग की तुम्हारी पगड़ी है; मानो यह आनन्द का झरना ही है!)

वे भजन के एक-एक चरण की रचना कर रहे थे और सभा में उपस्थित संत उस पंक्ति को दोहराते रहे थे। इस तरह स्वामी ने नींद से जागते ही चार पदों की रचना कर डाली। उनके शीघ्रकवित्व से महाराज और सभी संत बहुत प्रसन्न हुए।

श्रीहरि ने गढ़पुर में बीमारी ग्रहण की। ब्रह्मानन्द स्वामी उनकी सेवा में थे। श्रीहरि प्रतिदिन उनको अपने पास बुलाकर प्रशंसा करके अपने ही थाल का प्रसाद देते थे। इतने स्नेह को देखकर स्वामी का हृदय संदेह की गुफा में विहार करने लगा। वे सोचने लगे कि कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। धीरे-धीरे महाराज की बीमारी बढ़ने लगी। ब्रह्मानन्द स्वामी ने संजीवनी औषध

तैयार किया और श्रीहरि के सामने रखा, परन्तु उन्होंने नहीं लिया। ब्रह्मानन्द स्वामी तथा दूसरे संतों ने औषध के लिए श्रीहरि को बहुत आग्रह किया, परन्तु सब कुछ व्यर्थ सिद्ध हुआ। स्वामी समझ गए कि अब श्रीहरि इस लोक में विशेष रहना नहीं चाहते। यह सोचकर वे उदास हो गए।

अचानक एक दिन श्रीहरि ने ब्रह्मानन्द स्वामी को जूनागढ़ जाने की आज्ञा दी। ऐसी हालत में इतनी दूरी पर जाना कौन चाहेगा? परन्तु श्रीहरि ने सांत्वना देतेहुए उनसे कहा, 'जाइए, मुझे कुछ नहीं होगा। वहाँ जाकर गुणातीतानन्द स्वामी को तुरन्त यहाँ भेजें।' ब्रह्मानन्दजी जूनागढ़ पहुँचते ही गुणातीतानन्द स्वामी को गढ़पुर के लिए रवाना कर दिया। गुणातीतानन्द स्वामी से मिलकर श्रीहरि ने अपनी जीवन लीला समेट ली।

ब्रह्मानन्द स्वामी यह खबर पाकर महाराज के विरह से बेहोश हो गए। उनके हृदय पर असह्य आघात लगा था। श्रीहरि ने उनको दिव्य स्वरूप में दर्शन दिया; तब उनके मन को कुछ शांति प्राप्त हुई।

श्रीहरि के देहविलय के बाद स्वामी को कहीं भी चैन नहीं पड़ता था, परन्तु महाराज की आज्ञा थी कि मूली में मन्दिर का निर्माण करना है। स्वामी वहीं जाकर बस गए थे। उस प्रदेश में पत्थर के साथ पानी मिलना भी मुश्किल था। परन्तु महाराज ने उनको दर्शन देकर गाँव के निकट में एक पत्थर की खान दिखाई थी। वहाँ से पत्थर निकाल कर बैलगाडियों में ढोकर उन्होंने बहुत ही जल्दी अपना काम पूर्ण किया। आज भी मंदिर में स्वामीजी की कला-कौशल का अद्भुत दर्शन हो रहा है। अहमदाबाद के आचार्यश्री के करकमलों से यहाँ धूमधाम से मूर्तिप्रतिष्ठा की गई।

ब्रह्मानन्द स्वामी मूली मन्दिर में रह कर ठाकुरजी के पास हमेशा भजन-कीर्तन किया करते थे। महाराज की आज्ञा का पालन हो चुका था, अब स्वामी के मन में अक्षरधाम जा कर श्रीहरि के चरणों में बैठने की लगन तीव्र हो उठी थी। उनका शरीर भी अस्वस्थ रहने लगा था। देवानन्द स्वामी और अन्य संत उनकी सेवा लगातार कर रहे थे। एक बार उन्होंने निष्कुलानन्द स्वामी, गुणातीतानन्द स्वामी, आचार्यश्री, आदि महापुरुषों को मूली आने का निमंत्रण दिया। उन्होंने, गुणातीतानन्द स्वामी को अपने पास बुलाकर कहा, 'स्वामी! आप अक्षरधाम में आने की जल्दीबाजी मत

कीजिएगा। श्रीहरि की सर्वोपरिता के प्रचार और प्रसार का जो काम आप कर रहे हैं, वह अनन्य है। उसे पूरा होने के बाद ही आप अक्षरधाम में पधारिएगा।'

संवत् 1882 ज्येष्ठ शुक्ला दशमी के दिन श्रीजीमहाराज का निरंतर स्मरण करते हुए वे अक्षरधाम में श्रीहरि की सेवा में बिराजमान हो गए।

सद्गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी की अनेक प्रकार की सेवाओं के लिए पूरा संप्रदाय उनका ऋणी रहेगा। उन्होंने अपनी बुद्धिप्रतिभा, स्थापत्य विद्या की कुशलता तथा प्रचंड पुरुषार्थ से मन्दिरों का निर्माण कार्य सम्पन्न किया था। इसके उपरांत अपनी कवित्व-शक्ति के द्वारा गुजराती साहित्य को समृद्ध किया था। उपदेश वाणी, ज्ञानबोध, प्रेम भक्ति तथा महाराज के स्वरूप वर्णन से संबंधित लगभग आठ हजार भक्ति पदों की रचना स्वयं में एक कीर्तिमान है। गुजराती के उपरांत उन्होंने ब्रज, मारवाडी आदि भाषाओं में भी पद्य रचनाएँ की हैं। छन्द और छप्पय पर तो उनका पूरा अधिकार था। आज भी ऐसी रचनाओं के जानकार प्राप्त करना दुर्लभ हैं। उनके द्वारा निम्नलिखित ग्रंथों की रचनाएँ हुई थी :

(१) ब्रह्मानन्द काव्य, (२) श्रीसुमतिप्रकाश, (३) ब्रह्मविलास, (४) शिक्षापत्री-पद्य, (५) उपदेशचिन्तामणि चन्द्रावला, (६) उपदेश रत्नदीपक। ये उनके प्रकाशित ग्रन्थ हैं।

(१) नीतिप्रकाश, (२) शिक्षापत्री - हिन्दी, (३) सम्प्रदाय प्रदीप, (४) धर्मसिद्धांत, (५) वर्तमानविवेक, (६) श्रीनारायण गीता, (७) विवेक-चिन्तामणि, (८) सती गीता, (९) धर्मवंशप्रकाश ये उनकी अप्रकाशित रचनाएँ हैं।

सम्प्रदाय एवं गुजरात को उनके द्वारा मिली यह साहित्य निधि अमूल्य है।

ब्रह्मानन्द स्वामी की काव्य-प्रसादी

राग-गरबी, पद - 1

तारा मुखनी लावणता मीठी रे, मोहन वनमाळी
 एवी त्रिभुवनमां नव दीठी रे, मूर्ति मरमाळी...
 चटक रंगीला तारा मोळीडाने छेडे,
 मनडुं डोले छे केडे केडे रे... मोहन०
 रंगडो झाम्यो छे फूलडाने तोरे,
 भ्रमर भमे छे चहु कोरे रे... मोहन०
 भाल तिलक केसर केरुं राजे,
 मुख जोई शशियर लाजे रे... मोहन०
 ब्रह्मानन्द कहे सर्वस्व वारुं,
 रूप जोईने वहाला तारुं रे... मोहन०

पद - 2

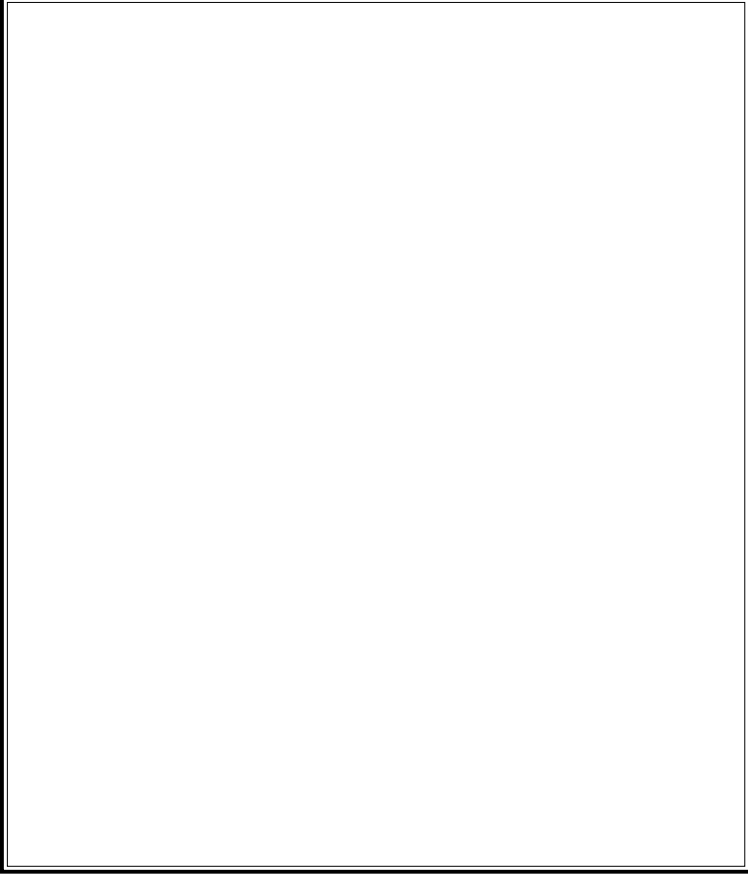
तारां लटकां प्यारां मने लागे रे, लहेरी लटकाळा
 हुं तो रीझी सलूणा घेरे रागे रे, छेला छोगाळा...
 सुन्दर नेण कमलदळ जेवी,
 भ्रूकुटि भ्रमर रह्या सेवी रे... लहेरी०
 गौर कपोल सुभग तिल त्राजु,
 कोमल नासा काजु रे... लहेरी०
 अधर उपर जाणे कुंकुम ढळियुं,
 दन्त दाडम केरी कळियुं रे... लहेरी०
 ब्रह्मानन्द कहे सामुं जोईने,
 मनडुं लीधुं प्रोईने रे... लहेरी०

पद - 1 भाव

हे मोहन! वनमाली! तुम्हारे मुख की शोभा मोहक है। त्रिभुवन में ऐसी भव्य मूर्ति कहीं नहीं देखी। तुम्हारी पगड़ी की कला देखकर मेरा मन नाच उठता है। तुम्हारी पगड़ी के रंगीन छोर पर झूल रहे फूल के तुर्रे पर भौंरे मँडराते हैं, तुम्हारे भाल का तिलक देखकर चाँद भी लज्जित हो जाता है। हे प्रिय! तुम्हारे स्वरूप पर मैं सब कुछ न्योछावर कर दूँ।

पद - 2 भाव

हे प्रभु! तुम्हारा छैलछबीला सलौना स्वरूप देखकर मुझे अपूर्व प्रसन्नता होती है। तुम्हारे प्रत्येक हावभाव को देखकर मेरा मनमयूर नाचने लगता है। तुम्हारे कमल से नयनों पर जो काली भौंहें हैं, वे मानो कमल पर बैठे भौंरे हैं, तुम्हारे गोरे गालों पर सुन्दर तिल दिखाई दे रहा है। उसकी और काजू सी नासिका की मनोहर सुंदरता अनोखी है, तुम्हारे होंठ तो इतने लाल हैं मानो उस पर कुमकुम गिरा हो। तुम्हारे दाँत अनारकली के समान हैं। ब्रह्मानन्दजी कहते हैं, तुम्हारे सामने देखते ही मन उसमें लय हो जाता है।



सद्गुरु देवानन्द स्वामी

सद्गुरु देवानन्द स्वामी

गुजरात के सुरेन्द्रनगर जिले में बरोळ और धींगडा गाँव की सीमा पर महादेव का छोटा सा मन्दिर 'सांकळेश्वर महादेव' के नाम से विख्यात है। वहाँ कई शिवभक्त नियमित रूप से शिवपूजन के लिए आते हैं। देवीभक्त जीजीभाई बरोळ गाँव से हमेशा पूजा के लिए इस मंदिर में आते थे। साथ-साथ पाँच वर्ष का देवीदान भी उनकी उँगली पकड़े हुए साथ ही आता था। भक्तिभाव पूर्वक शिवपूजा करते हुए अपने पिताजी को देखकर उस बालभक्त का हृदय भी धर्म-संस्कार से विभूषित हो रहा था।

एक बार जीजीभाई कार्यवशात् दूसरे गाँव गए थे। इसीलिए देवीदान अकेले ही पूजा के लिए मन्दिर पहुँचा। वह रोज शिवपूजा होती देखकर उसीके अनुसार विधि करने लगा। साथ-साथ अन्तर में भरा हुआ भाव ऊमड़ने लगा। बालक के हृदय में भगवान को प्रसन्न करने की प्रबल इच्छा जाग उठी। वह उसी प्रकार बैठकर पूजा करने लगा जैसे शिवजी उसके सामने प्रत्यक्ष बैठे हों! पूजा के बाद उसने निर्मल जल से अभिषेक किया तथा बेल-पत्र चढ़ाए, उसकी आँखें टकटकी लगाकर शिव मूर्ति की ओर देख रही थी। मानो अभी मूर्ति से निकलकर प्रभु उसके सिर पर आशीर्वाद देने के लिए पधारेंगे।

उसकी मनोकामना उसी वक्त पूरी हो गई। शिवजी ने साक्षात् प्रकट होकर उसके सिर पर आशीर्वाद हेतु अपने वरदहस्त रख दिए। देवीदान गद्गद होकर प्रणाम करते हुए प्रार्थना करने लगा। भगवान ने उसको वरदान दिया कि 'साक्षात् भगवान पुरुषोत्तम नारायण तुम्हारे गाँव में पधारेंगे, अलौकिक आश्चर्य दिखाएँगे। तुम उनकी शरण में जाना, मेरा आशीर्वाद है कि सरस्वती स्वयं तुम्हारी जीभ पर बिराजमान रहेंगी।'

यही देवीदान आगे चलकर 'स्वामी देवानंदजी' बना। उनका जन्म सुरेन्द्रनगर जिले में बरोळ गाँव में संवत् 1859 की कार्तिकी पूर्णिमा के दिन हुआ था। उनकी माता का नाम 'बहनजी बा' था और पिता थे जीजीभाई।

प्रभु के दर्शन से बाल देवीदान की प्रकृति में काफी परिवर्तन हो गया। उनकी माता ने देखा कि देवीदानजी का मन अब भक्ति की ओर झुकता जा

रहा है। कुछ वर्ष के बाद श्रीहरि जेतलपुर में यज्ञ की पूर्णाहुति करके बरोळ पधारे। गाँव के लोग उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़े। सभी ने मिलकर श्रीहरि को यहाँ रुकने के लिए बहुत आग्रह किया। परन्तु समय के अभाव में उनका रुकना असंभव था।

उस समय गाँव के हरिभक्त रया खटाण ने दलिया और दूध से भरी थालियाँ श्रीहरि के सामने रख दीं। श्रीहरि ने उसी पल कुर्ते की बाँह कुहनी तक चढ़ाकर बैलगाड़ी के नीचे की ओर पैर लटकाकर वहाँ बैठे-बैठे ही दलिया और दूध खाना आरम्भ कर दिया। दूध के रेले कोहनी तक उतर रहे थे और महाराज कोहनी तक जीभ लाकर दूध चाट रहे थे। देवीदान ने यह देखा तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसका मन श्रीहरि की मनोहर मूर्ति में खो गया।

अचानक महाराज की दृष्टि इस बालक की ओर गई। इस पूर्वजन्म के मुक्तात्मा बालक को श्रीहरि ने प्रेमपूर्वक निकट बुलाया। देवीदान तो दौड़कर श्रीहरि के श्रीचरणों में गिर गया। वह महाराज के साथ ही जाना चाहता था। वह कहने लगा, 'महाराज, 'मुझे अपने साथ ले चलें।' महाराज ने तुरन्त प्रसन्न होकर अनुमति दे दी। माता-पिता भी न जाने कैसे सहमत हो गए। इस प्रकार केवल सात वर्ष का देवीदान श्रीहरि के साथ चलकर उनकी शिष्य परंपरा में जुड़ गया। उसकी देखभाल तथा शिक्षा की जिमेदारी श्रीहरि ने ब्रह्मानन्द स्वामी को सौंपी।

कुछ समय तक देवीदान श्वेत वस्त्रों में पार्षद के रूप में रहे। संतों-भक्तों की सेवा करते रहे तथा ब्रह्मानंद स्वामी के पास रहकर शिक्षा पाते रहे। कुछ महीनों के बाद श्रीहरि ने भागवती दीक्षा देकर उसका नाम रखा 'स्वामी देवानन्दजी'। वे ब्रह्मानन्द स्वामी के साथ रहकर पिंगलशास्त्र एवं गानविद्या सीखने लगे। पूर्वसंस्कार के कारण उन्होंने बहुत ही कम समय में उच्च विद्या प्राप्त कर ली।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्ययुक्त साधुता, श्रीहरि के प्रति अनन्य भक्ति तथा विद्वत्ता होते हुए भी वे अहंशून्यता आदि सद्गुणों के कारण श्रीहरि की प्रसन्नता प्राप्त करने के साथ-साथ सत्संग में भी प्रतिष्ठा प्राप्त किए। जब वे गाते थे, तो वातावरण बदल जाता था। शास्त्रीय राग-रागिनियों पर उनका इतना प्रभुत्व था कि मानो राग स्वयं मूर्तिमान हो प्रकट हो जाती थी। उनके कण्ठ में सहज

मधुरता थी। वे उच्च कोटि के सितारवादक भी थे। इन्हीं गुणों और विद्याओं के कारण वे प्रेमानन्द स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, निष्कुलानन्द स्वामी, भूमानन्द स्वामी, मंजुकेशानन्द स्वामी और दयानन्द स्वामी के साथ श्रीहरि की अष्ट कवियों की मण्डली में विराजमान हो गए।

अहमदाबाद के मन्दिर की मूर्तिप्रतिष्ठा के प्रसंग पर, सूरत में अरदेशर कोतवाल के घर पर तथा ऐसे कई अवसरों पर गायकी पेश करके देवानन्द स्वामी ने श्रीहरि को प्रसन्न किया था तथा बड़े-बड़े गवैयों का गर्व उतारा था।

जब श्रीहरि धरमपुर पधारे, वहाँ के कलाकारों ने अद्भुत संगीत प्रस्तुत किया था। परन्तु जब श्रीहरि की आज्ञा से देवानन्द स्वामी ने कानडा राग के पद छोड़े और ताल-लय के साथ गाने लगे, तब दरबार में तबला बजानेवाले कलाकार को सुध तक नहीं रही। उन्होंने दो पद गाए, सारी सभा मुग्ध हो गई, सभी गवैये निस्तेज हो गए। श्रीहरि ने अपना जरियान जामा तथा अंगरखा देवानन्द स्वामी के सिर पर घुमाकर गवैयों को उपहार के रूप में दे दिया सभी कलाकर बहुत खुश हुए। श्रीहरि ने देवानन्द स्वामी को भी अपना श्वेत कुर्ता तथा डगली प्रसादी के रूप में दे दी।

धरमपुर से लौटते समय देवानन्द स्वामी का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। श्रीहरि की आज्ञा से अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी उनकी सेवा में रहे। उनकी अनन्य सेवा के कारण देवानन्द स्वामी गद्गद हो उठे और श्रीहरि के प्रसादिक वही कुर्ता तथा डगली गुणातीतानन्द स्वामी को देने के लिए तैयार हो गए, परन्तु उन्होंने केवल इतना ही कहा कि 'मैं ने तो श्रीहरि की तथा आपकी प्रसन्नता के लिए ही सेवा की है, यदि आप चाहें तो मुझ पर इतनी कृपा करें कि मैं हमेशा आप सभी की सेवा करता रहूँ।'

स्वामी गानविद्या में जितने प्रवीण थे, कविकर्म में भी उतने ही कुशल थे। उन्होंने हज़ारों भक्ति पदों की रचना की है। उनके अधिकांश काव्य उपदेशप्रधान हैं, और सरल भाषा में सांख्य निष्ठा के साथ नश्वर संसार का यर्थाथ रूप व्यक्त करके उन्होंने वैराग्य की भावना को चरमसीमा तक पहुँचाया है। संसार की असारता समझकर प्रभुमय वृत्ति को ही सारभूत सत्य समझानेवाली उनकी पदावली आज भी साधकों को भगवान के आनंद की ओर प्रेरित करती है। कहीं कटाक्ष तो कहीं उलाहना, उनके पदों की

विशेषता रही है। जो संप्रदाय में 'देवानन्द स्वामीना चाबखा (कोड़े)' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पदलालित्य के साथ-साथ व्यक्त हो रहे व्यावहारिक दृष्टान्त और भी उपकारक एवं असरकारक दिखते हैं।

देवानन्द स्वामी के कीर्तनों को सुनकर दलपतराम उनके शिष्य बन गए; जो आगे चलकर गुजरात के प्रसिद्ध कवि 'कवीश्वर दलपतराम' के नाम से विख्यात हुए। देवानन्द स्वामी ने उनको कविकर्म के साथ-साथ छन्द, अलंकार, शब्दभंडार, कल्पना की ऊँची उड़ान, शीघ्र कविता की चमत्कृति आदि अनेक बातें सिखलाई। उनके आशीर्वाद से ही वे 'कवीश्वर' बने। फिर भी देवानन्द स्वामी प्रसन्न होकर अहंशून्यभाव से कहते कि 'दलपतराम, तुम्हारी प्रतिभा के विकास में मेरा नहीं, श्रीजीमहाराज के आशीर्वाद का ही प्रताप है।'

संगीत एवं पद्यरचना के साथ स्वामी अध्यात्मज्ञान के भी उतने ही अनुभवी विद्वान् थे। अध्यात्म में उनकी गहरी रुचि थी। श्रीहरि के स्वरूप में उनकी निष्ठा अविचल थी। वे वचनसिद्ध महापुरुष थे। उनके आशीर्वाद से भक्तों के दुःख दूर होते थे तथा उनके व्यावहारिक कार्य सिद्ध होते थे। परंतु ऐसे समय में लोगों को यही कहते कि, यह सब तो श्रीहरि की कृपा से ही हो रहा है।

सद्गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी के देहविलय के बाद देवानन्द स्वामी को मूली मन्दिर के महन्त के पद पर नियुक्त किया गया। मन्दिर के बाकी काम उन्ही के हाथों पूर्ण हुए। अपनी व्यावहारिक सूझबूझ के द्वारा उन्होंने मन्दिर की शान-शौकत बढ़ा दी।

संवत् 1910 श्रावण कृष्णा नवमी के दिन देवानन्द स्वामी ने एक दर्जी भक्त से कहा, 'मैं कल अक्षरधाम में जानेवाला हूँ, मेरे लिए पालकी तैयार रखना।' दर्जी को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उस समय स्वामी का शरीर बिलकुल स्वस्थ था। अतः उसने स्वामी की बात पर ध्यान नहीं दिया। स्वामी ने पुनः कहा, 'तुम्हारे घर की दहलीज के पास कुमकुम के पाँच चरणचिह्न दिखाई दें, तो मेरी बात सच मानना।'

दूसरे दिन दर्जी भक्त ने अपने घर की दहलीज पर कुमकुम के पाँच चरणचिह्न देखे तो वह घबड़ा कर मन्दिर की ओर दौड़ने लगा। मंदिर में

आकर देखा, तो स्वामी ने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया था। उनके शरीर को पालकी में रखकर संतों-हरिभक्तों ने नदी के किनारे पर उनकी अन्तिम क्रिया समाप्त की। आज भी उनकी पदरचनाओं के कारण वे संप्रदाय में अमर हैं।

देवानन्द स्वामी की काव्य प्रसादी

राग-खमाच, पद - 1

माणसनो अवतार मोंघो, नहीं मळे फरी... माणसनो०
 मान, मरडाई, मोटप मेली, भजी ल्यो हरि;
 नहीं तो जाशो चोराशीमां जनम बहु धरी... माणसनो०
 दुःख तणो दरियाव मोटो, नहीं शको तरी;
 शामळियाने शरणे जातां, जाशो ऊगरी... माणसनो०
 निर्लज्ज तुं नवरो न रह्यो, घर धंधो करी;
 माया माया करतो मूरख, न बेठो ठरी... माणसनो०
 चेती ले चित्तमां विचारी, चालजे डरी;
 देवानन्दनो नाथ भजो, प्रेममां भरी... माणसनो०

पद - 2

भजी ले भगवानने, साचा सन्तने मळी... भजी ले०
 वचनमां विश्वास राखी, भजनमां भळी;
 पूरव केरां पाप तारां, तो जाशे बळी... भजी ले०
 ओळखी ले अविनाशी, रहेजे ज्ञानमां गळी;
 रीझशे रंगरेल वहालो, अढळक ढळी... भजी ले०
 काळ तो विकराळ वे'री, वींखशे वळी;
 काम ने कुटुंब तुंने, नाखशे दळी... भजी ले०
 सत्य त्यां सुख धर्म रहे, कूड तहाँ कळि;
 देवानन्द कहे दुनिया केरी, अक्कल आंधळी... भजी ले०

पद - 1 भाव

मनुष्यजन्म दुर्लभ है। कदाचित् वह दूसरी बार न भी मिले। इसलिए अभिमान और बड़प्पन को छोड़कर भगवान का भजन कर लो; अन्यथा चौरासी लाख जन्मों का चक्कर काटना पड़ेगा। दुःख की नदी इतनी बड़ी है कि उसको तैरकर पार करना कठिन है, बिना भगवान की शरण लिए उसको पार नहीं किया जा सकता। निर्लज्ज! तूने सारा जीवन संसार-व्यवहार के काम में ही बिता दिया, थोड़ी-सी भी फुर्सत तुझे नहीं मिली। निरंतर माया का जाप जपता रहा, अभी भी अपने चित्त में सोच ले। भगवान से डरता चल, प्रेम पूर्वक भगवान का स्मरण कर।

पद - 2 भाव

तुम यदि सच्चे संत के वचन पर भरोसा रखकर प्रभु की साधना करोगे, तो तुम्हारे सभी पाप भस्म हो जाएँगे, तुम अविनाशी को पहचान लो और ज्ञान प्राप्त कर नम्र बनो, तभी प्रभु तुम पर विशेष प्रसन्न होंगे। महाकाल तुम्हारा भयंकर शत्रु है, वह तुम्हें नोच डालेगा, परिवार और विषय तुम्हें पीस डालेंगे, इसीलिए तुम भगवान की शरण ले लो। जहाँ सत्य है, वहीं धर्म और सुख है। परंतु जहाँ असत्य है, वहाँ कलियुग है, कलह है। देवानंदजी कहते हैं कि दुनिया तो स्वार्थ में अंध होने के कारण संसार का इतना दुःख देख ही नहीं सकती।

सद्गुरु शुकानन्द स्वामी

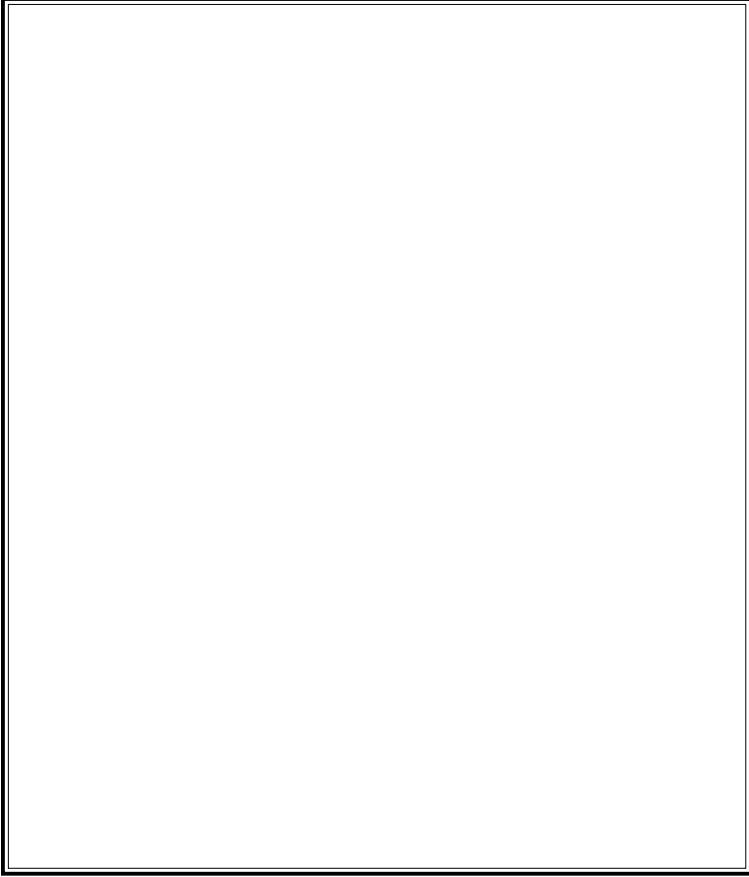
डभाण में आकर बसे हुए विप्र जगन्नाथ, वैसे तो नडियाद के निवासी थे। संवत् 1855 में उनका जन्म हुआ था। कुटुंब के उच्च संस्कारों के कारण बचपन से ही वे बहुत तेजस्वी थे तथा तीव्र बुद्धि के कारण विद्याभ्यास में भी बड़े कुशल थे। उनके हृदय में स्वाभाविक वैराग्यवृत्ति दिख रही थी। उनके आंतरिक गुणों ने ही उनकी बाह्य प्रतिभा को भी उतना ही प्रभावशाली बनाया था कि व्यवहार की विभिन्न कुशलता उनको सहज सिद्ध थी।

भगवान स्वामिनारायण के कुछ परमहंस उन दिनों डभाण गाँव में रहकर एक विद्वान पण्डित से संस्कृत का अध्ययन करते थे। तरुण वय के जगन्नाथ को सत्संग की अभिरुचि के कारण श्रीहरि के संतों का सत्संग हुआ। वे संतों का पवित्र आचरण देखकर बहुत प्रभावित हुए। उनके हृदय में संतों के प्रति अपार आदर और स्नेहभाव पैदा हुआ। वे संतों की सेवा-परिचर्या में जुट गए। संतों के मुख से वे बार-बार भगवान स्वामिनारायण की महिमा तथा उनके अद्भुत प्रताप की बातें सुनते रहते। कथाप्रसंग के कारण जगन्नाथ की मुमुक्षुता विशेष जाग्रत हुई और श्रीहरि के प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा तीव्र होने लगी। एक दिन वे एकाएक घर संसार को छोड़कर गढ़पुर की ओर निकल पड़े।

जब वे गढ़पुर की सीमा पर पहुँचे थे, तब श्रीहरि दादाखाचर के राजभवन में नीम के वृक्ष के नीचे संतों-भक्तों की सभा में बिराजमान थे। अंतर्दामीरूप से श्रीहरि सभा के बीच अचानक बोल उठे : 'चलो, चलते हैं राधावाव की ओर, डभाण से एक मुक्त आ रहा है।'

सारी सभा यह सुनकर विस्मित हो गई। श्रीहरि तुरन्त उठ खड़े हुए। सभा में उपस्थित सभी सभी उठकर श्रीहरि के पीछे-पीछे चलने लगे। जब वे राधावाव के रास्ते की ओर आगे बढ़े, तो गढ़पुर गाँव की सीमा पर ही भगवान और भक्त का मिलन हो गया।

ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान विप्र जगन्नाथ भगवान के दर्शन की उत्सुकता लिए तीव्र गति से चले आ रहे थे। श्रीहरि को देखते ही उन्होंने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। भगवान ने भी दौड़कर उनको उठा लिया और गले लगाकर स्वागत करने लगे।



सद्गुरु शुकानन्द स्वामी

जगन्नाथ की एक मात्र इच्छा थी कि, दीक्षा लेकर श्रीहरि को प्रसन्न करना। परंतु वे अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर पाए। अतः उन्होंने एकदिन सोमला खाचर को अपनी इच्छा बताई कि यदि आप मेरी ओर से श्रीहरि के पास गुजारिश करें तो महाराज मुझे साधु बनाएँगे। तब सोमला खाचर ने जगन्नाथ की ओर से श्रीहरि के चरणों में निवेदन किया, 'महाराज! उभाण के ब्राह्मण को साधु होना है।' श्रीहरि मुस्कराने लगे और कहा : 'ठीक है, उसे लेकर मुक्तानन्द स्वामी के पास जाओ, वे उसको दीक्षा दे देंगे।'

इस प्रकार संवत् 1872 के माघ मास में मुक्तानन्द स्वामी ने विधिपूर्वक जगन्नाथ को दीक्षा दी और उनका 'शुकानन्द स्वामी' नाम रखा। लोग प्रायः उन्हें 'शुकमुनि' नाम से पुकारते थे। जब दीक्षा के बाद वे श्रीहरि के निवास स्थान अक्षरकुटीर में दर्शन के लिए पधारे और महाराज को दण्डवत् किया, तो श्रीहरि उनको आशीर्वाद देकर पूछने लगे : 'क्या नाम रखा तुम्हारा ?'

'शुकानन्द।' उन्होंने उत्तर दिया।

श्रीहरि प्रसन्न होकर बोले, 'अरे, वाह! क्या मुक्तानन्द स्वामी भी तुम्हारा पूर्व का नाम जानते हैं!' दीक्षा के बाद श्रीहरि ने उनको निजी सेवक के रूप में रहकर सेवा करने का आदेश दिया।

श्रीजी के निवास स्थान अक्षरकुटीर के बिल्कुल सामने ही शुकमुनि का निवास था। यहीं रहकर वे हमेशा लेखन एवं साहित्य सम्पादन की सेवा किया करते थे। 'वचनामृत', 'सत्संगिजीवन' आदि ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ और साम्प्रदायिक संविधान का आलेख उन्होंने यहीं पर तैयार किया था। उनकी हस्तलिपि अत्यंत ही स्पष्ट और सुन्दर होती थी। इसीलिए श्रीजीमहाराज के पत्रव्यवहार का पूरा कामकाज वे ही संभालते थे। मानो महाराज के वे मंत्री हों। गुजराती और संस्कृत भाषा की गद्य तथा पद्य दोनों विधाओं का उनका ज्ञान बेजोड़ था, इसकी प्रतीति उनके लेख देखने से हो जाती है।

श्रीहरि के निजी सेवक रहने पर भी उनको कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। श्रीहरि भी प्रायः उनकी परीक्षा लिया करते थे। एक रात को श्रीहरि ने शुकमुनि से चिट्ठियाँ लिखवाना आरंभ किया। जब वे चिट्ठी लिखकर श्रीहरि को दिखाते थे, श्रीहरि उनको रद्द कर देते थे। ऐसा कई बार

हुआ और आधी रात बीत गई। बिना तेल के दीया भी बुझ गया। उस समय श्रीहरि ने अपने दाहिने चरण के अँगूठे से ज्योति प्रकट की। पत्र उसी ज्योति के उजाले में समाप्त किया गया।

प्रातःकाल हो गया था, परंतु सभी संत घेला नदी से स्नान करके अपने निवास पर आ चुके थे। शुकमुनि को आज सेवा में विलम्ब हो गया था, वे चिन्ता में थे कि अब स्नान के लिए किस को साथ में ले चलूं। क्योंकि आज उपवास के बाद द्वादशी का पारणा भी करना था।

उनकी यह चिन्ता श्रीहरि ने तुरंत परख ली। वे धीरे से उनके पास आए और बोले, 'लीजिए साधुराम, यह गुड़पपड़ी... आज इसी का दातुन करो!' श्रीहरि की इच्छा समझकर शुकमुनि ने गुड़पपड़ी से पारणा कर लिया। तत्पश्चात् वे किसी संत को लेकर स्नान के लिए नदी पर गए।

एक दिन अक्षरकुटीर के प्रांगण में बैठकर शुकमुनि ने किसी विषय पर चौदह पन्ने का पत्र तैयार किया। लिखते हुए सारी रात बीत गई थी। प्रातःकाल महाराज ने आकर लिखे हुए पन्ने देखे और बिना पढ़े एकाएक पूरा पत्र फाड़कर चिंदी-चिंदी करके फेंक दिया।

शुकमुनि के मन में तनिक भी आघात नहीं लगा। नित्यानन्द स्वामी यह लीला देख रहे थे। उन्होंने शुकमुनि से पूछा : 'स्वामी, आपकी पूरी मेहनत पानी में गई। क्या आपको आघात नहीं लगा? महाराज ने बिना देखे-पढ़े पत्र फाड़ कर फेंक दिया, जो आपने सारी रात जागकर लिखा था!'

'इसमें आघात क्यों होगा? मैंने तो श्रीहरि को प्रसन्न करने के लिए ही लिखा था। उसे फाड़कर भी श्रीहरि प्रसन्न तो हुए!' शुकमुनि ने कहा।

श्रीहरि की प्रत्येक क्रिया में कितनी दिव्यबुद्धि!

श्रीहरि इसीलिए उन पर हमेशा प्रसन्न रहते थे। उनकी हरसम्भव देखभाल करते थे, तथा कभी-कभी अपने थाल की प्रसादी देकर प्रसन्नता व्यक्त करते थे।

एक दिन शुकमुनि प्रातःकाल घेला नदी पर नहाने पधारे। अत्यंत शीतल जल के कारण वे थर थर काँप रहे थे। उसी अवस्था में उनको दरबारभवन तक लौटना पड़ा। यह देखकर श्रीहरि का हृदय पसीज उठा। उन्होंने दादाखाचर को बुलाकर कमरे की बल्लियाँ दिखाकर पूछा, 'ये

बल्लियाँ निकल सकती हैं क्या? ये खपचियाँ निकालकर इकट्ठी की जा सकती हैं क्या?’

दादाखाचर ने तुरंत श्रीहरि की मर्जी को ताड़ लिया। उन्होंने तुरंत बढ़ई को बुलवाकर लकड़ियाँ चिरवाई, मिट्टी के मटके तुड़वाकर उसमें लकड़िया जलाकर संतों के तापने का प्रबंध कर दिया। महाराज दादा खाचर की भक्ति देखकर प्रसन्न हुए।

श्रीहरि गढ़पुर में लक्ष्मीवाडी पर पधारते, तब आम के पेड़ के नीचे पलंग बिछवाकर बिराजमान होते थे। उस आम के पेड़ की डालियाँ महाराज के सिर को छूती थीं।

यह देखकर श्रीहरि कहते, ‘यह वृक्ष बहुत उतावला होता है, एक यह डभाणिया आमवृक्ष, दूसरा डभाणिया बैल और ये तीसरे हमारे डभाण से आए शुकमुनि, तीनों हमारे बहुत उपयोग में आए हैं। तीनों में शुकमुनि तो मेरे हाथ तथा पैरों के समान हैं।’

इस प्रकार श्रीहरि शुकमुनि की सेवाओं का स्मरण करके हमेशा उनकी प्रशंसा किया करते थे।

श्रीहरि के अन्तर्धान होने के बाद एक दिन भगुजी अक्षरकुटीर में गए और देखा, तो विस्मित रह गए। क्योंकि वहाँ पलंग पर श्रीजीमहाराज साक्षात् बिराजमान थे! उनको देखकर श्रीहरि ने कहा, ‘भगुजी, शुकमुनि को बुला लाओ, एक चिट्ठी लिखवानी है।’ वे तुरन्त दौड़कर शुकमुनि को बुला लाए।

महाराज ने कहा, ‘शुकमुनि! एक चिट्ठी लिखनी है, मेरे कहने के अनुसार लिखो।’

इतना कहकर उन्होंने चिट्ठी लिखवायी। लिखी गई चिट्ठी फिर एक बार उन्हीं से पढ़वाई, जैसे ही शुकमुनि ने पढ़कर पलंग की ओर देखा, तो महाराज अदृश्य हो गए थे! चिट्ठी शुकमुनि के हाथ में ही रह गई, यह आश्चर्यजनक घटना प्रत्यक्ष देखकर सभी विस्मय में पड़ गए।

महाराज के अन्तर्धान होने के बाद शुकमुनि सत्संग में विचरण करते रहते थे; परंतु श्रीहरि के वियोग की व्यथा से व्याकुल ही रहा करते थे। त्याग और वैराग्य के प्रति उनकी तीव्र अभिरुचि रहती थी कि शरीर का थोड़ा सा भी लालन-पालन पसंद नहीं करते थे। एक बार उन्होंने श्रीहरि से

प्रार्थना करके माँगा था कि मेरे शरीर की पुष्टि न हो, इसीलिए मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि प्रतिदिन मेरे शरीर को बुखार की पीड़ा सहन करनी पड़े। इस तरह श्रीहरि के अक्षरधामगमन के बाद बारह साल तक वे प्रत्येक रात को बुखार की पीड़ा सहते रहे। दिवस में सत्संग की सेवा तथा रात में शरीर की पीड़ा, यह सिलसिला सालों तक चलता रहा।

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी के प्रति भी उनके हृदय में अत्यंत स्नेह एवं आदर था। एकबार गुणातीतानन्द स्वामी श्रीहरि के दर्शन के लिए अक्षरकुटीर में पधारे। उनके बैठने के लिए शुकमुनि आसन खोजने लगे, तो श्रीहरि ने कहा, 'शुकमुनि, उनका बड़प्पन आसन से सिद्ध नहीं होता, वे तो अनादिकाल से ही महान हैं' इतना कहकर उन्होंने शुकमुनि को संक्षेप में स्वामी के अक्षर पद की महिमा समझाई।

श्रीहरि के अन्तर्धान होने के बाद शुकमुनि जूनागढ़ जाकर गुणातीतानन्द स्वामी के सत्संग का लाभ लिया करते थे। वे हमेशा कहते कि 'स्वामी आपकी बातें सुनता हूँ तो लगता है मानो महाराज ही प्रत्यक्ष आकर बातें कर रहे हों।' वे कई बार कहते थे कि 'वचनमृत का शोध मैंने किया था, वचनमृत लिखे थे भी मैंने, परन्तु उसका पूरा और सही अर्थ तो स्वामी के सत्संग से ही समझ रहा हूँ।'

आचार्य श्री अयोध्याप्रसादजी जब बीमार हुए, तब गुणातीतानन्द स्वामी के साथ शुकमुनि भी अहमदाबाद में उपस्थित थे। उस समय गुणातीतानन्द स्वामी श्रीहरि के पुरुषोत्तम स्वरूप के विषय में अद्भुत निरूपण करते थे।

एक दिन स्वामी ने शुकमुनि से कहा : 'एकबार अक्षरकुटीर में महाराज, हरिभक्तों को आपसे चिट्ठियाँ लिखवा रहे थे। आपने पत्र में श्रीहरि को प्रह्लाद एवं जनक की उपमा दी थी, वह पत्र पढ़कर महाराज ने फाड़ डाला। दूसरी बार पत्र लिखवाया, उसमें आपने महाराज को दत्तात्रेय एवं कपिल की उपमा दी थी, वह भी महाराज ने फाड़कर फेंक दिया। इतने में दीया बुझ गया और महाराज ने अपने अँगूठे से तेजपुंज प्रकाशित किया, उस तेज में श्रीहरि की किशोर मूर्ति दिखाई दी कि जिसके सामने बड़े-बड़े अवतार हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे थे। क्या आपको इस प्रसंग की स्मृति हो रही है?'

शुकमुनि को सारा प्रसंग स्मृति-पट पर आ गया। उनको स्वामी की बातों से श्रीहरि के सर्वोपरि स्वरूप की निष्ठा दृढ़ हो गई तथा गुणातीतानन्द स्वामी की अलौकिक महिमा भी समझ में आ गई।

संवत् 1921 में वड़ताल में पूर्णिमा के उत्सव के बाद शुकमुनि महेलाव पधारे थे। यहाँ के भक्तराज धोरीभाई के छः महीने के तेजस्वी पुत्र डुंगरभाई (शास्त्रीजी महाराज) को वर्तमान (नियमधारण) निवेदित करके उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि 'यह बालक सत्संग की अनन्य सेवा करेगा और श्रीजी महाराज की यथार्थ उपासना का प्रचार एवं प्रसार करेगा।'

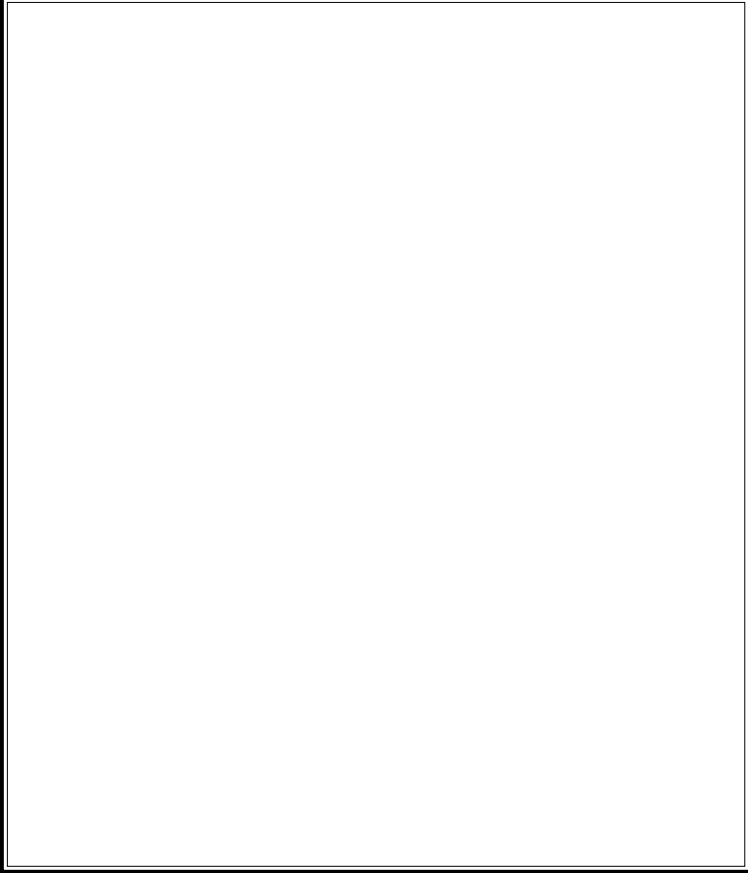
शुकमुनि, उम्र में श्रीहरि से 17 साल छोटे थे। उनकी शारीरिक प्रकृति अत्यन्त सौम्य थी। संवत् 1925 मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी के दिन वड़ताल में उन्होंने शरीर छोड़ा।

श्रीहरि ने कारियाणी प्रकरण के तीसरे वचनामृत में इस महान सन्तवर्ष की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'ये शुकमुनि बहुत बड़े साधु हैं। जिस दिन से ये हमारे पास हैं, उस दिन से इनकी उमंग चढ़ती ही दिखाई देती है। उसमें कभी मंदगति नहीं हुई। अतः ये तो मुक्तानन्द स्वामी के समान हैं।'

उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की है, जो इस प्रकार हैं :

- (1) बुद्धिप्रदीप, (2) ज्ञानप्रदीप, (3) प्रार्थनामाला, (4) लोकमंगलाख्यान,
- (5) विश्वमंगल अष्टोत्तरशतनाम, (6) शिक्षापत्री-अन्वयार्थ-टीकायुक्त,
- (7) 'सत्संगिजीवन' की हेतु टीका।

तथा अनेक प्राकृतग्रन्थों की भी रचना की है, जो इस प्रकार हैं : (1) वचनामृत का सम्पादन, (2) दशम उत्तरार्ध, (3) बुद्धिप्रकाश, (4) धर्मामृत, (5) नारायणकवच, (6) सत्संगदीप, (7) भक्ति का अध्याय, (8) हरिगीता, (9) धार्मिक स्तोत्र की टीका, (10) प्रार्थनामाला।



भक्तराज दरबार श्री झीणाभाई

भक्तराज दरबार श्री झीणाभाई

जूनागढ़ के नवाब राजसभा में बैठे थे। छोटे-बड़े सभी जागीरदारों से कचहरी खचाखच भरी हुई थी। एक के बाद दूसरी शराब की बोतलें खाली हो रही थीं। शराब के जाम लेकर राज सेवक जागीरदारों के सामने घूम रहे थे, हुक्के की गुड़गुड़ाहट से उठती तम्बाकू की नशीली गंध वातावरण को उत्तेजक बना रही थी। गवैये अपने साजिंदों के साथ महफिल सजा रहे थे। नर्तकियों ने नृत्य आरंभ कर दिया था। विषयी जीव नृत्य गीत और सुरापान की महफिल में डूबे हुए थे।

परन्तु उस समय एक व्यक्ति का दम घुट रहा था। वह अपना सिर छिपाकर आँखें नीचे झुकाकर बैठा था। साथियों द्वारा हो रही प्रशंसा के बीच, नवाब की दृष्टि संकोच में डूबे हुए उस व्यक्ति पर केन्द्रित हो गई। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। देखा तो पहचान गए कि सिर झुकाए बैठे, वे पंचाला के दरबार झीणाभाई थे। वे सोचने लगे कि 'वास्तव में यह खुदा का सच्चा बन्दा है और वही खुदा के आशिक होता है, जो जितेन्द्रिय होता है।' झीणाभाई के प्रति नवाब साहब का आदर बढ़ गया।

जूनागढ़ जिले के नाघेर प्रदेश में 'पंचाला' नामक एक छोटा-सा गाँव है। गुजरात के प्रसिद्ध सम्राट सिद्धराज जयसिंह के वंशज, सोलंकी वाघेला - राजपूत ठाकुर मनुभा के कुमार हेमंतसिंह को ही लोग 'झीणाभाई' कहते थे। संवत् 1848 में उनका जन्म हुआ था। ठाकुर मनुभा रामानन्द स्वामी के शिष्य थे। आषाढी संवत् 1858 के श्रावण मास में रामानन्द स्वामी नीलकण्ठ वर्णा के साथ 'पंचाळा' पधारे थे। मनुभा के दरबारभुवन में उनकी पधरावनी हुई थी, तब झीणाभाई को उनके आशीर्वाद का लाभ प्राप्त हुआ था। रामानन्द स्वामी के अक्षरवास के बाद श्रीहरि के अनेक अद्भुत चमत्कारों की बातें सुनकर तथा उनके प्रत्यक्ष दर्शन से झीणाभाई के हृदय में श्रीहरि के प्रति अपार सद्भाव पैदा होनी लगा। उनकी माता गंगाबाई एवं बहन अदीबाई भी श्रीहरि के परम भक्त बन गए।

झीणाभाई को सत्संग के प्रति इतनी अभिरुचि थी कि राजवैभव तथा जूनागढ़ के नवाब के दरबार के सभासद होने पर भी पाँचों विषयों के प्रति

वे अनासक्त रहते थे। राजसी पंचविषयों को वे बिल्कुल घटिया दूषण मानते थे। महाराज को प्रसन्न करने के लिए वे हमेशा सत्संग के नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करते थे। उनका आहार-विहार तथा रहन-सहन आदि अत्यंत नियमबद्ध था। मितव्ययिता में भी वे अनुशासनबद्ध थे। उनको इस बात का हमेशा डर रहता था कि कहीं यह चंचल चित्त श्रीहरि को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ में न फँस जाए! श्रीहरि उनकी ऐसी सावधानी की बार-बार प्रशंसा करते थे। अपनी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा वे सत्संग-सेवा में खर्च करते थे, हरिभक्तों को सहायता करते रहते थे, अपनी जान की परवाह किए बिना वे हरिभक्तों का पक्ष रखते तथा गरीब हरिभक्तों की भी अनन्य महिमा समझते। किसी भी हरिभक्त की निंदा न तो कभी सुनते थे, न कभी किसी के अवगुणों का चिंतन भी करते थे!

श्रीहरि के प्रति उनके हृदय में अनन्य भक्तिभाव था। इसीलिए वे कभी-कभी पूरी रियासत का कारोबार छोड़कर उनके पास जाकर रहते, सत्संग करते और सेवा करते रहते। साल में एक बार वे श्रीहरि को सन्तों-हरिभक्तों के साथ 'पंचाला' बुलाते, उत्सव मनाते और तन-मन-धन से अपार सेवा करते थे। इस तरह उनका जीवन पूर्ण रूप से सत्संगमय हो गया था।

गुजरात की धरती पर संवत् 1869 में पड़ा अकाल अत्यंत भयानक था। श्रीहरि ने अपने आश्रित हरिभक्तों को पहले ही से चेतावनी दे दी थी। हरिभक्तों ने श्रीहरि की आज्ञा होते ही अपने-अपने पशुओं को बेच दिया था। वे परिवार की सुरक्षा के लिए अनाज भी इकट्ठा कर लिए थे। ऐसे समय में झीणाभाई ने अपनी ओर से अनेक हरिभक्तों तथा कई गरीब परिवारों को अनाज की सहायता की थी। उन्होंने परोपकार के इतने सारे काम किए, फिर भी जो कुछ अनाज बेचा, उस पर अच्छा मुनाफा किया। उन्होंने अकाल के कारण कमाया हुआ पूरा धन सत्संग की सेवा में लगा दिया। श्रीहरि से प्रार्थना करके उन्होंने पचास सन्तों को अपने घर रखा, उनकी सेवा की तथा उनके सत्संग का लाभ लिया।

एकबार झीणाभाई ने श्रीहरि को पंचाला आने के लिए निमंत्रित किया। उक्त अवसर पर जीवुबाई आदि महिला भक्तों को भी साथ में लाने का आग्रह किया। परंतु श्रीहरि ने स्पष्ट रूप से कहा था कि हमारे संघ में

महिलाएँ नहीं चलेंगी। इतना कह कर श्रीहरि पंचाला के लिए रवाना हो गए। जब झीणाभाई को मालूम हुआ कि श्रीहरि ने महिला भक्तों को साथ में नहीं लिया, तो वे खुद उनको लेने के लिए चल दिए। मार्ग में दोनों का आमना-सामना हो गया। श्रीहरि वस्तुस्थिति जानकर उदास हो गए और तुरंत वापस लौट गए। झीणाभाई ने उन्हें मनाने-समझाने की बहुत कोशिश की, वे अपने हठाग्रह पर रोने लगे, बार-बार क्षमायाचना की, लेकिन महाराज नहीं माने। सुरा खाचर आदि भक्तों के मनाने पर महाराज की उदासीनता तो किसी तरह टल गई; लेकिन वे पंचाला नहीं गए।

झीणाभाई श्रीहरि के प्रति भले ही अपार श्रद्धालु थे; परन्तु साथ-साथ दुराग्रही भी थे। इस दोष को मिटाने के लिए ही श्रीहरि ने यह प्रसंग उपस्थित किया था। इस घटना के द्वारा झीणाभाई को शिक्षा मिल गई कि 'सेवक को अपने इष्टदेव की इच्छानुसार ही बरतना चाहिए।' जब झीणाभाई अपनी मनमानी करके महाराज को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते, तो महाराज कहते : 'रूठकर भक्ति करना अच्छा नहीं, ऐसी भक्ति तथा ऐसा प्रेम चिरंजीवी नहीं होता।'

ऐसे ही एक दूसरे प्रसंग पर श्रीहरि पंचाळा नहीं पधारे। इससे झीणाभाई बहुत नाराज हुए, लेकिन जब उनको अपनी गलती का एहसास हुआ, तो वे खूब पछताये। ज्ञान से ही ऐसे दुःख की निवृत्ति होती है।

परन्तु भक्तवत्सल भगवान जीवात्मा के दोषों की ओर नहीं देखते। अतः तीन-चार मास के बाद वे पंचाळा पधारे। उस समय सेवा तथा सत्संग का सुख देकर श्रीहरि ने झीणाभाई को खुश किया। बुद्धिमान और ज्ञानी भक्त झीणाभाई के दरबार में श्रीहरि ने जो वचनामृत कहे हैं, उनमें अध्यात्मज्ञान की अनेक प्रेरक तथा मौलिक बातें कही हैं।

वे उतने व्यवहारकुशल थे कि बड़े-बड़े यज्ञयागों में, उत्सवों में उनको बुलते और व्यवस्था तथा आर्थिक प्रबंधन की जिम्मेदारी उन्हीं के हाथों में सौंप देते। नियमपालन की उनकी दृढ़ता अनन्य थी। धर्मसम्बन्धी तनिक-सी भी शिथिलता वे पलभर सहन नहीं करते थे।

संवत् 1879 में श्रीहरि ने झीणाभाई के भक्तिभाव से पुष्पदोलोत्सव का लाभ पंचाळा में दिया। सैकड़ों सन्तों और हज़ारों हरिभक्तों को इस उत्सव

में निमंत्रित किया गया था। छोटे-बड़े खेमे डलवाकर सभी हरिभक्तों की आवास व्यवस्था की गई थी। झीणाभाई सभी को प्रतिदिन उत्तम प्रकार के मिष्ठान्न खिलाते। श्रीहरि सभी को कथावार्ता का अपार आनंद देते थे।

पूर्णिमा की रात को श्रीहरि भक्त-मण्डली के साथ गाँव के बाहर विशाल चौक में पधारे। उन्होंने जरियान वस्त्र एवं सुंदर आभूषण धारण किए थे। आज तो उन्होंने कृपा करके रास खेलने का आयोजन किया था। नौ वृत्तों की रचना करके सबसे अंदर के भाग में सन्तों का वृंद, उसके बाहर पार्षदों का वृंद तथा अन्त में हरिभक्तों की मंडली वृत्ताकार घूम रही थी। सन्तों ने झाँझ, मृदंग के साथ कीर्तनों की झड़ियाँ लगा दीं। श्रीहरि ने अनेक स्वरूप धारण कर, संत-भक्तों के साथ रास खेलना आरंभ किया। सभी भक्त समुदाय देह का भान भूलकर, रात के दो बजे तक महाराज के साथ रास नृत्य करते रहे।

साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण के साथ ऐसे आनंद के क्षण कैसे मिल सकते थे। दूसरे दिन भी सारे हरिभक्त रंग लेकर तैयार हो गए। महाराज ने अंजलि भरभरकर हरिभक्तों पर गुलाल उड़ाया, रंग के बड़े-बड़े हौज तैयार किए गए थे। पिचकारियाँ भरभरकर श्रीहरि भक्तों पर रंग छिड़कते थे, सब रंग से सराबोर हो गए। महाराज ने आज सन्तों को भी रंगोत्सव खेलने की आज्ञा दी, सन्त और हरिभक्त अपना-अपना दल बनाकर खूब खेले। श्रीहरि मंच पर उपस्थित होकर सबके ऊपर बारीबारी से रंग छिड़ककर प्रोत्साहित करते थे। ऐसी दिव्य लीला के बाद वे गाजेबाजे के साथ नदी पर स्नान करने के लिए पधारे। सम्प्रदाय के इतिहास में यह प्रसंग अमर हो गया।

झीणाभाई ने हज़ारों हरिभक्तों को उत्तम प्रकार का भोजन करवाया, गाँव के लोगों एवं दूरदराज के गाँवों में रहनेवाले गरीबों को भी भोजन करवाया गया। श्रीहरि सन्तपंक्ति में भोजन परोसने के लिए पधारे। ऐसी अपार सेवा करके झीणाभाई ने श्रीहरि को अत्यन्त प्रसन्न किया।

पंचाला में श्रीहरि ने सन्तों को एक नया आदेश दिया: आज से सभी को ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करके मध्य में कुमकुम का टीका करना।

आज से श्रीहरि ने सन्तों को पुनः भागवती दीक्षा के नियम प्रारंभ

करवाये और परमहंस दीक्षा के नियम पूर्ण करने का आदेश दिया। इस प्रकार संतों ने शिखा-सूत्र धारण किया, नित्यपूजा ग्रहण की तथा स्वयं पाकी होने का निश्चय किया। इस अवसर पर अपने प्रिय एवं उत्तम भक्त गुणातीतानन्द स्वामी के भाल में गोपीचन्दन एवं कुमकुम का तिलक करके श्रीहरि ने सभी सन्तों को उनकी यथार्थ पहचान करवाई कि 'यही है मेरा तिलक और यही हैं मेरे साधु। इनके समान कोई साधु नहीं है, मेरे समान कोई भगवान नहीं है।' आज से सन्तों ने श्रीजी के आदेशानुसार तिलक तथा कुमकुम का टीका लगाना प्रारम्भ कर दिया।

झीणाभाई तो सत्संग के ही व्यसनी हो गए थे। वे श्रीहरि के सत्संग के लिए वर्ष का आधा समय अपने गाँव पंचाला में रहते थे, तो आधा समय गढ़डा में बिताते थे। एक बार वे गढ़डा आए तो पूरे नौ महीने तक वहीं रहे। उनको बुलाने के लिए घर से चिट्ठियाँ आने लगीं। वे बिना पढ़े ही चिट्ठियाँ अपने बिस्तर के नीचे रख देते थे। घर के लोग उत्तर न पाकर हैरान हो गए। उन्होंने श्रीहरि को लिखा कि 'झीणाभाई वहाँ हैं या नहीं?'

श्रीहरि ने झीणाभाई से इसका रहस्य पूछा तो उन्होंने बताया : 'जब घर से चिट्ठियाँ आती हैं, मैं उन्हें बिना पढ़े ही बिस्तर के नीचे सरका देता हूँ। यदि पढ़ूँ और उद्वेग पैदा हो जाए तब मन घर लौटने की सोचने लगे। और आप के सत्संग में विघ्न पैदा हो जाए। इसीलिए मैं चिट्ठियाँ पढ़ता ही नहीं था।'

श्रीहरि उनकी सांख्यनिष्ठा देखकर प्रसन्न हुए और उनको घर लौटने की आज्ञा दी। इस ओर श्रीहरि के निजी सेवक नाजा जोगिया कभी-कभी महाराज के पास झीणाभाई का स्मरण किया करते थे। एक दिन महाराज ने पूछा कि आप झीणाभाई का स्मरण बार-बार क्यों किया करते हो? तब उन्होंने बताया, 'महाराज, झीणाभाई ने घर लौटते समय मुझे दो धोती देकर कहा था कि तुम बार-बार महाराज के पास मेरा स्मरण करते रहना, ताकि मेरा कल्याण हो।' झीणाभाई का ऐसा भक्तिभाव देखकर श्रीहरि बहुत प्रसन्न हुए।

एकबार झीणाभाई की श्रद्धा की परखने के लिए श्रीहरि पंचाला में बीमार पड़ गए! किसी भी औषधि अथवा किसी भी प्रयास से श्रीहरि का स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता था। एक दिन मुक्तानन्द स्वामी का धैर्य टूट गया

और उन्होंने श्रीहरि से कहा, 'महाराज! आपने यह क्या सोच रखा है? एक साधारण वैरागी भी इस लोक में आता है, तो मठ-मन्दिर बाँधकर एक निशानी छोड़ जाता है और आप स्वयं पुरुषोत्तमनारायण इस धरती पर पधारे और स्मृति के रूप में आप कुछ भी किए बिना चले जाएँगे, तो आपका इस मृत्युलोक में आना व्यर्थ हो जाएगा।' श्रीहरि यह सुनकर तुरन्त मन्दिर, साधु तथा शास्त्र निर्माण की व्यवस्था का संकल्प किया। अन्त में झीणाभाई से कहा : 'आप, यदि थाल-नैवेद्य तैयार कराएँगे, तो हम अवश्य अच्छे हो जाएँगे।' झीणाभाई ने यह सेवा की और श्रीहरि स्वस्थ हो गए।

एक बार झीणाभाई कार्यवश मांगरोल गए थे। यहाँ उन्हें समाचार मिला कि एक गरीब भक्त कमलशी वांझा बहुत बीमार हैं। ठीक तरह से उनकी सेवा सुश्रूषा नहीं हो रही है। कमलशी, श्रीहरि के निष्ठावान भक्त थे। झीणाभाई उनका हाल पूछने गए, तो कमलशी की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। क्योंकि उनके कोई सम्बंधी उनकी तनिक भी देखभाल नहीं रखते थे। झीणाभाई बहुत दुःखी हुए। उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया कि मैं, इन्हें अपने घर ले जाऊँगा। परन्तु कमलशी की चारपाई उठाने के लिए कुल मिलाकर वे तीन ही मजदूर इकट्ठा कर पाए। अतः चौथे मजदूर की जगह पर उन्होंने स्वयं कमलशी की चारपाई उठा ली। एक हाथ से घोड़ी की लगाम पकड़कर वे भरी बाजार से होकर पंचाला की ओर चलने लगे।

गाँव की ड्योढ़ी से बाहर निकलते ही गाँव के पटेल मिल गए। दरबार श्री को चारपाई उठाए देखा, तो उन्होंने तुरन्त एक मजदूर की व्यवस्था कर दी। झीणाभाई घोड़ी पर सवार होकर पंचाला पहुँचे। कमलशी की चारपाई कहाँ रखवानी है, इस विषय में उनकी बहन अदीबाई को कोई रुचि न थी। सारी स्थिति जानकर, झीणाभाई ने उनकी व्यवस्था अपने कमरे में ही कर दी। उन्होंने उस गरीब भक्त की रात-दिन सेवा की। वे उनके हाथ-पैर दाबते, उनके कपड़े धोते, पास में बैठकर अपने हाथों से खिलाते तथा श्रीहरि की महिमा की बातें कहकर उनको प्रसन्न रखते।

एक दिन कमलशीभाई को सिरदर्द हो रहा था, झीणाभाई ने उनके उपचार के लिए बहन अदीबाई से काली मिर्च माँगी।

'घर में नहीं है' कहकर बहन ने बात टाल दी।

कुछ दिनों के बाद स्वयं झीणाभाई को सिरदर्द हुआ। तब बहन अदीबाई तुरंत बिना माँगे काली मिर्च पीसकर ले आई।

झीणाभाई ने बहन से पूछा, 'आज काली मिर्च कहाँ से आई?'

'घर में थोड़ी-सी थी।' बहन ने हकलाकर उत्तर दिया।

'कमलशीभाई के लिए नहीं मिली और मेरे लिए मिल गई?' झीणाभाई ने कटाक्ष करते हुए पूछा और पिसी हुई मिर्च की कटोरी को चौक में फेंक दिया। उसी दिन से उनका, अपनी बहन अदीबाई के साथ बोलना-चालना बंद हो गया।

उन दिनों कमलशीभाई को निम्न जाति का मानकर हर कोई उनकी उपेक्षा करता था। किन्तु झीणाभाई ने कमलशीभाई को भगवान का भक्त मानकर उनकी चारपाई अपने कंधों पर उठाई, उन्हें अपने कमरे में ठहराया और बहन को भी भक्त की महिमा समझाई। यह समाचार श्रीहरि को गढ़पुर में प्राप्त हुआ, तो वे बहुत प्रसन्न हुए। श्रीहरि उसी समय पंचाला के लिए प्रस्थान कर गए और वहाँ पहुँचकर झीणाभाई को सात बार अपने गले लगाया। एक गरीब भक्त की इतनी सेवा-सुश्रूषा से श्रीहरि बहुत प्रसन्न हुए। इसके पश्चात् आनेवाला होली का रंगोत्सव श्रीहरि ने पंचाला में ही मनाया।

अदीबाई ने अपनी भूल पर श्रीहरि से क्षमा-याचना की और भाई को समझाने के लिए बिनती की। फलस्वरूप श्रीहरि की आज्ञा से झीणाभाई ने बहन के साथ बोलना शुरू कर दिया।

जूनागढ़ में झीणाभाई इतने बीमार हो गए थे कि सबको मालूम हो गया कि अब झीणाभाई रहनेवाले नहीं हैं। महाराज को गढ़डा में इस बात की खबर मिली तो वे तुरंत घोड़ी पर सवार होकर निकल पड़े और आधी रात को जूनागढ़ पहुँचे। घोड़ी की टाप सुनते ही सभी लोग जाग उठे। 'महाराज पधारे हैं' यह खबर दरबारगढ़ तक पहुँच गई। महाराज दीवानखाने में पधारे और झीणाभाई के सिरहाने के पास बैठ गए। इस तरह अचानक हुए श्रीहरि के दर्शन से झीणाभाई की आँखें भीग गईं।

झीणाभाई के पुत्र का नाम हठीसिंह था। श्रीहरि ने झीणाभाई से उनके विषय में पूछताछ करने लगे।

झीणाभाई ने कहा, 'महाराज, वह यदि आपका भक्त बना रहेगा। तो आप, बिना सिफारिश के भी उसे संभाल लेंगे। यदि वह आपका भक्त नहीं बना तो मेरी सिफारिश करने पर भी आप उसे नहीं संभाल पाएँगे। प्रह्लादजी के बारे में उसके पिता ने भगवान को कहाँ सिफारिश की थी ?'

श्रीहरि ने झीणाभाई से फिर पूछा, 'आपकी कोई इच्छा है ?'

'जी महाराज, सौराष्ट्र के सोरठ प्रांत के सत्संगियों के लिए एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो, यही मेरी इच्छा है।' श्रीहरि ने उसके लिए झीणाभाई को वचन दिया।

उन्होंने पुनः पूछा, 'आप को किस धाम में जाना है ? बदरिकाश्रम, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठ, गोलोक या अक्षरधाम में ?'

झीणाभाई ने कहा: 'महाराज ! मुझे भगुजी, मियांजी और मूलजी ब्रह्मचारी की तरह अपनी सेवा में रखिए।'

झीणाभाई के साथ हो रहे श्रीहरि के संवाद को सुनकर, उनकी माता गंगाबाई बहुत दुःखी हुई। उनके मन में स्पष्ट हो गया कि अब झीणाभाई नहीं रहेंगे।

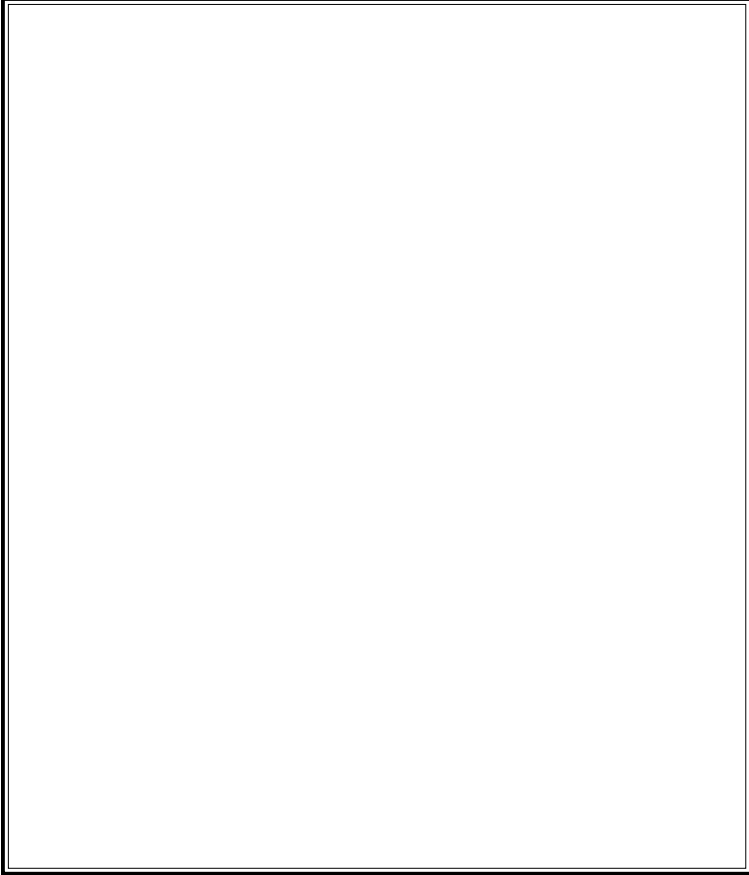
महाराज ने यह देखा तो कहने लगे, 'माताजी ! इस झीणा को हम जूनागढ़ का राज्य दे दें तो कैसा रहेगा ?' उन्होंने प्रसन्न होकर कहा, 'तब तो बहुत अच्छा होगा, महाराज !'

श्रीहरि ने पुनः पूछा, 'यदि उनको बड़ौदा का राज्य दे दें तो ? इन्द्र का स्वर्ग दे दें तो ? ब्रह्मा का राज्य ब्रह्मलोक दे दें तो ? प्रकृति और पुरुष का राज्य दे दें तो ?' यह सब सुनकर माताजी एक भी शब्द न बोल पाई। अंत में श्रीहरि ने कहा, 'माँ, हम तो झीणाभाई को अक्षरधाम देना चाहते हैं।' वे बोल ही रहे थे कि झीणाभाई ने आँखें मूँद लीं।

अंतिम संस्कार के लिए ले जाते हुए स्वयं श्रीहरि ने उनकी अर्धी उठाई और मुहल्ले के बाहर तक ले चले। यह देखकर सभी आश्चर्य चकित रह गए। क्योंकि कुछ दिन पूर्व श्रीहरि के छोटे भाई इच्छारामजी का अक्षरवास हुआ था। तब भी उनकी अर्धी को श्रीहरि ने अपना कन्धा नहीं लगाया था ! परन्तु झीणाभाई के प्रति श्रीहरि का ऐसा आदर देखकर, मुक्तानन्द स्वामी ने इसका रहस्य जानने की इच्छा प्रकट की।

श्रीहरि ने कहा, 'झीणाभाई ने मेरे साधारण से भक्त कमलशीभाई की चारपाई को भरी बाजार में अपने कन्धे पर उठाई थी। उस दिन वे जितने कदम चले थे, उससे दुगुने कदम हम उनकी अर्धी अपने कन्धे पर उठाकर चले हैं।' मुक्तानंद स्वामी को प्रसन्नता के लिए साधना की एक नई राह मिली कि जो भक्त दास का ही दास बनता है, उस पर भगवान की अनन्य प्रसन्नता होती है।

संवत् 1883 की माघ कृष्ण दशमी के दिन जूनागढ़ में झीणाभाई अक्षरनिवासी हुए। श्रीहरि के भक्त-मण्डल में झीणाभाई एक अग्रगण्य भक्तराज थे। सर्वमंगल स्तोत्र में श्रीहरि के हजार नाम हैं, उनमें झीणाभाई का नाम भी महाराज के नामों में जोड़ दिया गया है। 'हेमन्तार्चास्तुतिप्रीताय नमः' हजारों भक्त इस नाम से उनको याद करते हैं, यही उनकी अनन्य भक्ति का प्रमाण है।



भक्तराज जोबनपगी

भक्तराज जोबनपगी

मुखमंडल पर दिव्य तेज, सिर पर बंधी हुई जटा तथा कौपीनधारी एक कृशकाय शरीरवाले किशोर उम्र के महायोगी को देखकर, वड़ताल गाँव का दरबार जोबनपगी, उनके निकट आकर खड़ा हो गया। नीलकंठवर्णी को एक महान योगी समझकर, जोबनपगी के मन में एक विचार उत्पन्न हुआ, 'ऐसे योगी, यदि अपने गाँव में रहें, तो कितना अच्छा हो...!' जोबनपगी के अंतर्मन में एक पवित्र भाव उत्पन्न हुआ और योगिराज से प्रार्थना करते हुए, उसने कहा, 'प्रभु! आपके लिए मैं एक कमरे की व्यवस्था कर देता हूँ, आप यहीं निवास करें।'

वर्णीराज ने विनम्र स्वर में कहा, 'हमें तीर्थयात्रा के लिए जाना है, लौटते समय हम आपके गाँव में अवश्य रहेंगे। फिर यहीं ठहर जाएँगे।' नीलकंठवर्णी से बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि वे विचरण करते हुए उमरेठ से होकर वड़ताल पधारे हैं। अतः पगी ने नीलकंठवर्णी को अपने घर भोजन लेने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना स्वीकार करके वर्णीराज, पगी के घर जाकर भोजन पकाए और भगवान को नैवेद्य अर्पण करके स्वयं प्रसाद स्वीकार किया। इसके पश्चात् पड़ोस में देवकरण पगी के घर एकान्त देखकर, वहीं पर विश्राम किया। लौटते समय फिर एकबार गाँव में आने का वचन देकर, वहाँ से वे बोचासण की ओर निकल गए।

इस घटना को कई साल बीत गए। एकबार वड़ताल के बापूजीभाई के बहुत आग्रह से भगवान स्वामिनारायण वड़ताल पधारे और उन्हीं के घर निवास किए। वहाँ वे प्रतिदिन कथावार्ता करते, गाँव के साधारण लोगों को भी समाधि करवाते तथा घर-घर पधरावनी करके, सभी को सदाचार के मार्ग पर प्रेरित करते। इस प्रकार गाँव के कई लोग श्रीहरि की ओर आकृष्ट हुए। बापूजीभाई के आठ पुत्र थे, उनमें रणछोड़दासजी नाम के पुत्र की पत्नी रंगबाई श्रीहरि के लिए ब्राह्मण द्वारा स्वादिष्ट रसोई तैयार करवाती तथा बड़े प्रेमभाव से श्रीहरि को खिलाती।

इसी गाँव में श्रीहरि ने वर्णीरूप में जोबनपगी को दर्शन दिया था, परंतु असुरभाव के कारण वे उस बात को भूल गए थे। जोबन अब समग्र गुजरात

में एक दुर्दान्त लुटेरे के रूप में कुख्यात हो चुका था। उसका नाम सुनकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी काँप जाते थे। अपनी गिरोह के साथ वह सौ-सौ कोस दूर तक लूटने जाता और वापस लौट आता। पुलिस-प्रशासन में हिम्मत नहीं थी कि कोई उसे गिरफ्तार करता। वह दिन-दहाड़े किसीको भी लूट लेता और जब चाहे, किसी की भी हत्या करने में उसे देर न लगती! जोबन का अपने तीनों भाइयों, सुन्दर पगी, शकरो पगी तथा वलो पगी के साथ अच्छा ताल-मेल था।

एकबार जोबन ने अपने छोटे भाई सुन्दर को बुलाकर कहा : 'पाटीदारों के मुहल्ले में एक साधु आया है, जिसे लोग भगवान मानते हैं। चलो देखें तो सही, वह कैसा भगवान है? कहते हैं कि उसके पास बहुत अच्छा घोड़ा है; तुम जाकर उसे उड़ा लाओ। उसके भगवान होने का भी पता लग जाएगा।'

'पर बड़े भैया,' किन्तु सुन्दरपगी ने इन्कार करते हुए कहा, 'मैंने उनका दर्शन किया है; वे बड़े चमत्कारी संत हैं। इतने तेजस्वी हैं कि उनके दर्शन मात्र से निश्चय हो जाता है कि वास्तव में वे भगवान ही हैं। मैं ऐसे महापुरुष से छेड़खानी नहीं करूँगा। मुझे तो डर लगता है।'

जोबन जो चाहता, उसे वह पूरा करके ही रहता था। घोड़ी चुराने की योजना को साकार करने में उसे जल्दबाजी थी। इसलिए वह रात में ही उठकर घर से निकल पड़ा और पटेल के घर जा पहुँचा। बापूजीभाई की ड्योढ़ी का दरवाजा धीरे से खोलकर, ज्यों ही उसने आँगन में कदम रखा कि 'खड़खड़ाहट' सुनकर पार्षद रायजी जग गया। वह तलवार लेकर आँगन में कूद पड़ा। दरवाजा खोलकर देखा, तो महाकाय जोबन। क्रोध के आवेश में रायजी ने उसको ललकारा, 'हम तुमसे कभी डरनेवाले नहीं हैं। यहाँ हम अकेले नहीं, कई लोग हैं।'

जोबन ने कहा : 'मैं तो तेरे भगवान की बड़ाई देखने आया था। ठीक है, आज तो तू भले ही मेरे रास्ते का रोड़ा बनकर आया है; परंतु जब तेरा भगवान दूसरे गाँव जाएँगे, तब तू क्या कर लेगा?' वह रायजी को धमकी देकर चला आया।

श्रीहरि तीन-चार दिन वहाँ रहकर विचरण के लिए निकल गए।

कुछ वर्षों के बाद श्रीहरि ने डभाण गाँव में एक महान अहिंसक यज्ञ किया। पूरे गुजरात के हज़ारों हरिभक्त इस यज्ञ में पधारे थे। सौराष्ट्र के काठी-दरबारों के शीघ्रवेगी अश्व डभाण की सीमा पर उतर आये थे। लोग बार-बार भगवान स्वामिनारायण के रोजा घोड़ा की कीर्ति गा रहे थे। जब जोबन ने इस अश्व के बारे में सुना, तो उसके मन में लोभ जाग उठा कि ऐसा ही अश्व मेरे पास होता तो मैं एक रात में सेंकड़ों कोस के अंतर से लूट का माल यहाँ तक उड़ा लाता।

आखिर उसने रोजा घोड़ा को उड़ाने के लिए तिथि निश्चित कर ली। चारों ओर रात का सन्नाटा फैला था। जोबन ने बड़ी सावधानी से अश्वशाला में प्रवेश किया। ठीक सामने ही श्रीहरि का तेजस्वी अश्व हिनहिना रहा था। जोबन की बाँछें खिल गईं। जैसे ही उसने घोड़े की रस्सी खोलने के लिए झुका, तो उसकी आँखे चुँधिया गईं। प्रकाश के वर्तुलों में उसने जरियान वस्त्रों में भगवान स्वामिनारायण का प्रत्यक्ष दर्शन किया। रस्सी से हाथ हटाकर, वह दो कदम पीछे अँधकार की ओर सरक गया। लगातार तीन दिनों तक इसी प्रकार से जोबन ने अश्व उड़ाने की निष्फल कोशिश की। क्योंकि रोज उसे घोड़े-घोड़े के पास श्रीहरि की मूर्ति दिखाई देती थी। जितने घोड़े उतने ही स्वरूप के दर्शन से जोबन का सिर चकराने लगा। मन ही मन वह कुछ निर्णय करके एक दिन भरी सभा में आकर खड़ा रह गया।

हरिभक्तों की विशाल सभा में हर कोई श्रीहरि के दर्शन में निमग्न था, ऐसे ही वातावरण में जोबन ने अचानक प्रवेश किया और मंच पर चढ़कर श्रीहरि के चरणों में गिर गया। श्रीहरि ने बार-बार उसके कंधे टटोलकर उसे उठाने का प्रयास किया, लेकिन वह हिला तक नहीं। केवल अपने आसुंओं के अभिषेक से वह श्रीहरि के चरणों को धोता रहा। कुछ देर के बाद जोबन गद्गद होकर श्रीहरि से क्षमा माँगने लगा, 'प्रभु! वड़ताल में मुक्तानंद स्वामी के मुख से बार-बार आपकी महिमा सुनी थी, परंतु संशय के कारण मेरी मति शुद्ध नहीं हो पाई। मैंने अश्वशाला से अश्वों को चुराने का मन किया था। परंतु घोड़े-घोड़े पर मुझे आपका दर्शन हुआ। हे प्रभु, मैं तो कुलहीन हूँ, कुटिल एवं कुपात्र हूँ, बुद्धिहीन एवं पामर हूँ। मैं आपको नहीं पहचान पाया। हे दीनबंधु, दया कर के मेरे पापों का नाश करो।

जोबन की पुकार सुनकर श्रीहरि बहुत प्रसन्न हुए, उनको धीरज देकर माफ किया। उसी दिन प्रतिज्ञा देकर चोरी आदि, कुकर्मों का त्याग करवाया। संवत् 1866 के पौष महीने के पूर्णिमा के दिन गुजरात को थरथराने वाला लुटेरा, भक्त बनकर श्रीहरि का आश्रित हो गया। जब श्रीहरि गुजरात में होते, जोबन तथा उनके भाई श्रीहरि के अंग रक्षक बनकर उनकी सेवा करते रहते।

एक दिन धर्मपुर से लौटते समय श्रीहरि वड़ताल पधारे। उन्होंने जोबन से कहा, 'आपने रास्ते में बहुत सेवा की। मैं अत्यंत प्रसन्न हुआ हूँ और मैं तुझे वरदान देना चाहता हूँ।' जोबन ने प्रणाम करते हुए कहा, 'आप कल्पवृक्ष के समान मुझे प्राप्त हुए। अब हमें कोई बात की कमी नहीं है। केवल एक ही अभिलाषा है कि पुष्पलोदोत्सव का लाभ दें, हज़ारों मनुष्यों को यहाँ बुलायें, उनकी सेवा का लाभ दें।' श्रीहरि ने जोबन को रंगोत्सव मनाने का वचन दिया।

निश्चित समय पर भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए वड़ताल पधारे। सारे गुजरात से हज़ारों हरिभक्तों को निमंत्रित किया। स्वामी निष्कूलानंदजी ने बारह द्वार के सुंदर हिंडोले की रचना की थी, उसे दो आमवृक्षों के बीच झुलाकर श्रीहरि को बिराजमान किया। मुक्तानंद स्वामी ने दिव्य आभूषणों से विभूषित श्रीहरि को हिंडोले में झुलाया। जोबन की भक्ति के वश में होकर श्रीहरि ने हिंडोले के सभी द्वारों पर बारह रूप धारण किये। इस दिव्य दर्शन के साथ रंगोत्सव संपन्न हुआ। दूसरे दिन ज्ञानबाग में भी श्रीहरि ने अद्भुत रंगोत्सव का लाभ दिया।

श्रीहरि ने वड़ताल में पुनः एक बार पुष्पदोलोत्सव का आयोजन किया था। वे जोबनपगी के घर ठहरे थे। रात्रि के समय जोबनपगी तथा पार्षद हमीर श्रीहरि की सुरक्षा में उपस्थित रहते थे। कुछ देर के बाद वे निद्राधीन हो गये, तब बुधेज गाँव से खोड़ाभाई श्रीहरि का आशीर्वाद लेने के लिए महाराज के कमरे में आ पहुँचे। महाराज ने सोचा कि वड़ताल के प्रेमी भक्त मुझे इतना जल्दी जाने नहीं देंगे, इसीलिए मैं खोड़ाभाई के साथ ही निकल जाऊँगा। यह सोचकर वे खोड़ाभाई की बैलगाड़ी में निकल गए। गाड़ी की खटखटाहट से पगी की नींद उचट गई, उन्होंने आवाज़ दी कि 'वहाँ कौन है?'

तब श्रीहरि ने गाड़ी में छिपकर उत्तर दिया, 'वह तो मैं खोड़ाभाई हूँ।' पगी महाराज की आवाज़ को नींद के कारण नहीं पहचान पाये और अँधकार

की आड़ में बुधेज की ओर निकल गये। जब प्रातःकाल के समय हरिभक्त दर्शन के लिए आने लगे, तब पगी ने कहा, 'श्रीहरि थके होने के कारण अभी तक सोये हुए हैं।' परंतु कुछ देर के बाद मालूम हुआ कि महाराज तो निकल चुके हैं। सभी उदास होकर जोबनपगी को उलाहना देने लगे। जाँच के बाद मालूम हुआ कि श्रीहरि खोड़ाभाई के साथ बुधेज पहुँच चुके हैं। सभी वहीं जा पहुँचे। श्रीहरि स्वयं अपनी लीला पर मुस्कराने लगे। सभी को सांतवना देकर वे गढ़पुर पधारे तथा अन्नकूट के उत्सव पर वड़ताल आ पहुँचे।

संवत् 1878 के चैत्र महीने में श्रीहरि ने वड़ताल में भव्य मंदिर का भूमिपूजन किया। हरिभक्तों ने विभिन्न सेवाएँ अपने सिर पर उठाईं। जोबनपगी ने अपनी जमीन मंदिर के लिए अर्पण की थी। उसके उपरांत भी कुछ और सहकार देने के लिए श्रीहरि ने आदेश दिया। उस समय जोबन ने कहा, 'महाराज आपने हमारा लूटमार का धंधा बंद कर दिया। वरना हम तो पूना तक जाकर लूट कर के धन ले आते थे। किन्तु अब मैं धन की सेवा कैसे करूँ?'

श्रीहरि ने मुस्कराते हुए कहा, 'आप उसकी चिंता न करें। मेरी आज्ञा से जो धर्म का पालन करता है, वही महान है। बिना धन के कोई छोटा नहीं हो जाता। बहुत धनवान होने पर मंदिरों का निर्माण भले ही कोई करता रहे, परंतु धर्म-पालन नहीं करता, तो उसका कल्याण कभी नहीं होता। धनिक हमेशा अहंकारी होता है। मुझे तो धर्मनिष्ठ भक्त ही प्रिय है। अधर्म से धन लाकर यदि कोई मेरी सेवा करेगा, तो मैं प्रसन्न नहीं रहूँगा। उस पर तो मैं रूठ जाता हूँ। धर्म मेरे पिता हैं, जो कोई मेरे धर्म का उल्लंघन करेगा तो वह मेरे पिता का दुश्मन होगा। फिर वह मेरा प्रिय कैसे बन सकता है? धन की सेवा से अधिक मैं श्रम की सेवा को महान समझता हूँ। अर्थात् आप सब प्रसन्नचित्त हो शरीर श्रम से सहायता करें।' जोबन तथा उनके भाइयों ने श्रीहरि की ऐसी ही सेवा करने का वचन दिया तथा अपने वंश में भी ऐसे ही भक्तों का जन्म हो, ऐसा वरदान माँगा।

मंदिर-निर्माण को देखने के लिए श्रीहरि स्वयं पधारते थे। एक बार रंगोत्सव के बाद जोबन को श्रीहरि ने कहा, 'आज तो आपकी कुलदेवी की देहरी पर जाएँगे।' जोबन खुश हुए। कुलदेवी की मूर्ति पर गुलाल उड़ाया, और कहा, 'आज देवी भक्त हुई।' तत्पश्चात् 'पीपल कुएँ' पर स्नान किया।

एकबार जोबन वसो गाँव गए थे। गाँव के मुखिया कशियाभाई ने जोबन को देखकर सोचा, एक बार इसी जोबन की हांक पर पूरा गुजरात कांपता था। मेरे गाँव की गलियाँ सुनसान हो जाती थी। बच्चे रोना बंद कर देते थे। मेरा गाँव किस के त्रास के कारण काँपता रहता था। वही जोबन, आज कैसा शालीन भक्त होकर तिलक-टीका लगाए, माला-कंठी धारण करके, शांतभाव से चला जा रहा है कि मानने भी नहीं आता!

स्वामिनारायण के द्वेषी होते हुए भी कशियाभाई ने जोबन को बड़ी जिज्ञासापूर्वक निकट बुलाया और पूछा, 'अरे जोबन, तुमने स्वामिनारायण में ऐसा क्या देखा कि इतना बड़ा तिलक करके बड़े घमण्ड से घूम रहे हो? क्या वे चमत्कार से किसी गधे को गाय बना देते हैं?'

जोबन ने यह सुनकर बड़ी दृढ़तापूर्वक परंतु विनम्रता से कहा, 'कशियाभाई! आपको अभी भी कोई विशेष चमत्कार देखना है? आपको मालूम ही है कि एक समय ऐसा था कि मेरे साथ बात करने की आप में हिम्मत तक नहीं थी। मैं था, लुटेरों का सरदार! परंतु मुझे स्वामिनारायण भगवान ने भक्त बना दिया और मेरे समान गधे को गाय के समान पवित्र बना दिया। क्या यह स्वामिनारायण का चमत्कार नहीं है? कशियाभाई स्तब्ध होकर कहने लगे, 'हाँ भाई हाँ।'

श्रीहरि के स्वधामगमन के बाद जोबनपगी हमेशा बेचैन रहा करते थे। उनके हृदय में यही उद्वेग रहा करता था कि महाराज के बिना मेरी देह फट क्यों नहीं पड़ती? बड़े-बड़े सद्गुरुओं ने उन्हें आश्वासन दिया और श्रीहरि की अन्तिम विधि की भस्म प्रसादी के रूप में हररोज भोजन के साथ लेने की आज्ञा दी। जोबनपगी प्रतिदिन भोजन करते समय उस भस्म का थोड़ा-सा अंश ले लेते, तो उनका मन शांत हो जाता था।

एक दिन वे भोजन कर रहे थे। रोटी और छाछ परोसी गई थी। जोबन ने भस्म नहीं देखा, तो पत्नी से पूछा। उनकी पत्नी ने धीरे से कहा, 'भस्म तो खतम हो गई।' ये शब्द सुनते ही जोबन के हृदय पर भारी आघात लगा। 'हे...?' आवाज़ के साथ उनकी साँस रुक गई। उनके प्राण-पखेरु हमेशा के लिए इस दुनिया से उड़ गए और जोबन श्रीहरि के सान्निध्य में जा पहुँचे।

भक्तिमती जीवुबाई

‘कुल को कलंकित करनेवाली बड़ी भक्तिन बनी है! राजमहल में साधु को छिपाया है, कहाँ है वो...? बोल...’ ऐसा कहकर गरजते हुए नंगी तलवार के साथ दरबार एभल खाचर ने महल के एक कमरे में प्रवेश किया। जीवुबाई उस समय ध्यानमग्न स्थिति में दूध से भरा हुआ कटोरा हाथ में लेकर ठाकुरजी की मूर्ति के सामने निवेदित कर रही थीं।

‘यह सारा पाखंड छोड़ दे। यदि वास्तव तेरा ठाकुरजी हैं, तो इस कटोरे का दूध अभी आकर पी जाए, वरन् इस तलवार से तेरे टुकड़े- टुकड़े कर दिए जाएँगे।’ एभल खाचर ने ललकारा।

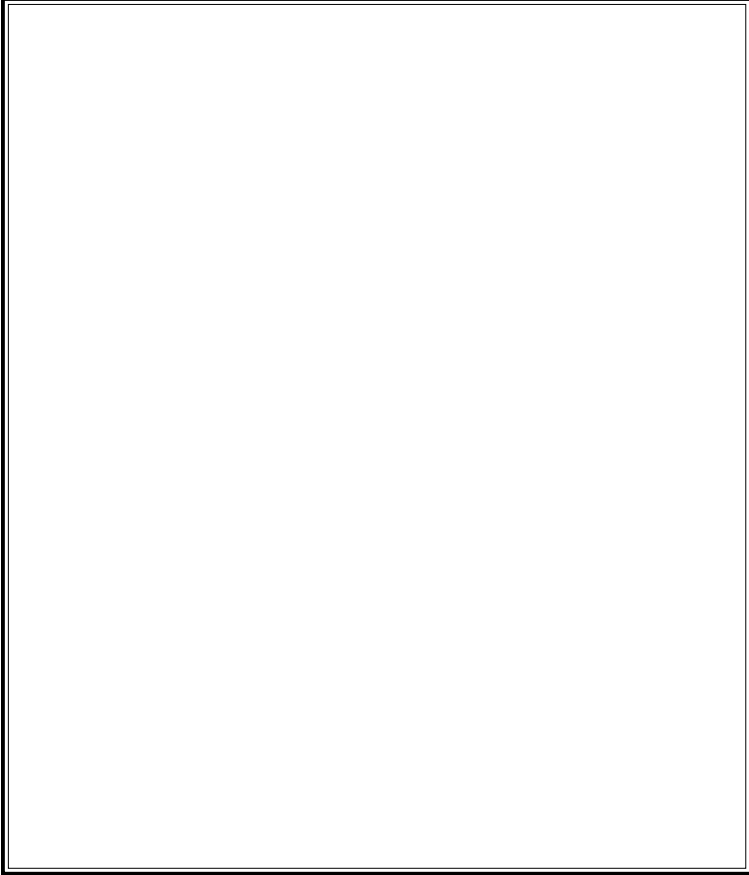
एकाएक पूरा कमरा दिव्य प्रकाश से भर गया। भगवान चतुर्भुज नारायण छोटीसी मूर्ति से प्रकट हुए और कटोरा हाथ में लेकर दूध पीने लगे। एभल खाचर आश्चर्यचकित ही नहीं, भयभीत होकर काँपने लगे। हाथ से तलवार गिर पड़ी, होश में आते ही वे ठाकुरजी के चरणों में गिर पड़े।

अपनी सहायता के लिए प्रकट हुए परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन से जीवुबाई की खुशी का ठिकाना न रहा। उनकी आँखों से आनंद की अश्रुधारा बहने लगी। कुछ ही देर में प्रभु अदृश्य हो गए, उनका प्रकाश छोटी सी मूर्ति में समा गया। गद्गद होकर एभल खाचर अपनी पुत्री जीवुबाई से क्षमा माँगने लगे। और पूछा, ‘बेटी! तुम किसकी भक्ति कर रही हो?’

‘मैं तो अवतारों के अवतारी, प्रकट पुरुषोत्तम नारायण की भक्ति करती हूँ। वे सर्वत्र व्यापक हैं तथा आज मनुष्यरूप में पृथ्वी पर विचरण कर रहे हैं। आपने जिनके दर्शन किए, वे स्वयं सहजानंद स्वामी थे। वे ही स्वयं भगवान हैं, परब्रह्म हैं। महिमा के साथ यदि आप भी उनका भजन करेंगे, तो अवश्य वे आपके भी वश में हों जाएँगे।’ जीवुबाई ने धीर-गंभीर मधुर वाणी में अपने पिता को प्रभु की महिमा समझाई।

एभल खाचर ने बीच ही में पूछा, ‘बेटी, लोग कहते हैं कि हमारे घर में एक साधु रहता है, वह कौन है? और अभी यह दूध पी गया, वह कौन है?’

‘बापू! दोनों एक ही हैं। वही हमारे इष्टदेव और गुरु, स्वामी सहजानन्दजी ही हैं।’



भक्तिमती जीवुबाई

जीवुबाई ने पिता के भ्रम को दूर कर दिया। प्रकट पुरुषोत्तम अपने ही घर में हों और मैं, उनको पहचान तक न सकूँ? तलवार लेकर मैं अपनी ही बेटी की हत्या के लिए तैयार हो गया! यह सोचकर एभल खाचर बहुत दुःखी हो गये। इसके पश्चाताप स्वरूप वे परमात्मा की प्रार्थना करने लगे।

जीवुबाई गढ़पुर के ठाकुर साहब एभल खाचर की बड़ी पुत्री थीं। संवत् 1841 में उनका जन्म हुआ था। एभल खाचर की एक भी संतान लंबी आयुष्य न भोग सकी। इसीलिए उन्होंने इस पुत्री का नाम जीवुबाई रखा था। परिणाम स्वरूप उनकी संतानें जीवित रहने लगीं। उम्र में सभी संतानों में बड़ी होने के कारण इन्हें सब 'मोटी बा' भी कहते थे। पूर्णिमा के दिन जन्म होने के कारण कुछ लोग इन्हें 'पूनमती बाई' के नाम से भी पुकारते थे। शास्त्रों में उनको 'जया' के नाम से भी संबोधित किया गया है।

बचपन से ही उनका जीवन भक्तिपूर्ण था। वे तप करने की तीव्र रुचि रखती थीं। अपना मन अहोनिश परमात्मा में रखने की साधना के लिए वे हमेशा सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करती थीं। भोजन में षड्रसों का उन्होंने त्याग किया था। भूमि पर सोना तथा पुरुष मात्र से पन्द्रह गज दूर रहना उनका नियम था। ऐसे कठोर नियमों का पालन करके वे निरंतर प्रभु-सेवा में तल्लीन रहती थीं।

विवाह के योग्य उम्र होने पर उनके लिए एभल खाचर ने अपने परिवारजनों को योग्य युवक तलाशने का निवेदन किया। परन्तु जब जीवुबाई को इस बात का पता चला, तो उन्होंने विनम्रता से अपने पिता से कहा, 'बापू! मैं शादी करना नहीं चाहती। जीवनभर प्रभु की उपासना करने में ही मेरी रुचि है।'

परन्तु काठी दरबारों में पुत्रियों का विवाह बचपन में ही कर दिया जाता था। जीवुबाई के हृदय में अनन्य भक्तिभाव देखते हुए भी एभल खाचर ने उनकी एक न सुनी और कुंडल के अमरा पटगर के पुत्र हाथिया पटगर के साथ उनका विवाह कर दिया।

ससुराल में अपनी सास राईबाई का सरल स्वभाव देखकर एक दिन जीवुबाई ने विनम्रभाव से कहा, 'माँ, मुझे तो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके प्रभुभक्ति करनी है। मुझे संसार में कोई रुचि नहीं है।' राईबाई अपने

पुत्रवधू की भावना समझकर अपने पुत्र को समझाने लगीं कि तुझे अपनी पत्नी को प्रभु की आराधना के लिए सहमति देनी चाहिए। परिणाम स्वरूप वह अपनी पत्नी को सहमति देने के लिए तैयार हो गए। दोनों के अनुमतिपत्र लेकर जीवुबाई, श्रीहरि के पास गढ़पुर आ पहुँची। एकाएक जीवुबाई को अपने घर लौटी हुई देखकर एभलखाचर क्रोधित हो उठे। वे जीवुबाई को मारने के लिए तैयार थे, परन्तु जब जीवुबाई के हाथों में अनुमतिपत्र देखा, तो वे शान्त हो गए।

भगवान स्वामिनारायण भारत-भ्रमण करते हुए गुजरात में सदाचार वृद्धि के मंत्र के साथ नूतन क्रांति कर रहे थे। ऐसे समय में पूर्वजन्म के संस्कार के आधार पर जीवुबाई श्रीहरि की कृपा के कारण निरावरण दृष्टि से श्रीहरि के निरंतर दर्शन किया करती थीं।

श्रीहरि विचरण करते हुए उन्मन्त गंगा-घेला नदी के किनारे बसे हुए गढ़पुर गाँव में पधारे। उस समय जीवुबाई को दर्शन देने की इच्छा से श्रीहरि ने अंतयामी रूप से दरबारभुवन में अपने आगमन का संदेश भेजा। वर्षों से प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए उत्सुक जीवुबाई समाचार मिलते ही आनन्द विभोर होकर नाच उठीं। अपनी छोटी बहन ललिता को लेकर वे श्रीहरि के दर्शन के लिए नदी के तट पर पहुँच गईं। श्रीहरि के दर्शन से उन्हें परम शान्ति की अनुभूति हुई। उन्होंने महाराज को दरबार में पधारने का निमंत्रण दिया। भक्तवत्सल भगवान प्रार्थना स्वीकार करके दरबार भुवन में आने के लिए तैयार हुए। परन्तु वैसे ही राजभवन में प्रवेश करना मुश्किल था।

जीवुबाई अपने साथ गाँव की और स्त्रियों के वस्त्र भी लाई थी। श्रीहरि ग्वालिन के वेष में दरबार में आ गए। दोनों बहनों के भक्तिभाव के अधीन होकर वे इस तरह रहने लगे कि एभलखाचर को पता तक नहीं चला। इस प्रकार एक महीना बीत गया। एक दिन एभल खाचर को पता चल गया कि कोई साधु बिना उनकी अनुमति के दरबारभुवन में निवास कर रहा है और जीवुबाई उसकी सेवा कर रही हैं। एभल खाचर क्रोध से कांपने लगे। वे अपनी पुत्री को सजा देने के लिए नंगी तलवार के साथ दौड़े; परन्तु उसी वक्रत भगवान के दिव्य दर्शन से उनके संशय टूट गए थे।

एभल खाचर वैसे तो स्वामी रामानन्द के शिष्य ही थे, उनको पता था

की गुरु ने अपने प्रिय शिष्य सहजानन्द स्वामी को अपना उत्तरदायित्व सौंपा है। तथा कारियाणी में उन्होंने श्रीहरि का दर्शन भी किया था। परन्तु उनकी अपार महिमा से वे अपरिचित थे। इसीलिए वे महाराज को एक साधारण महन्त से अधिक नहीं समझते थे। जीवुबाई उसी सहजानन्द स्वामी का भजन करती हैं, यह भी उनको पता नहीं था।

परन्तु आज उनकी आँखें खुल गईं। अब तो भगवान स्वामिनारायण ने गढ़पुर को ही अपना मुख्य निवास स्थान बना लिया था। एभल खाचर महिमा पूर्वक श्रीहरि की सेवा करने लगे। जया, ललिता और उनके छोटेभाई दादाखाचर भी उनकी तथा उनके संतों की निरंतर सेवा कर रहे थे। उनकी भक्ति के वशीभूत हो, श्रीहरि ने गढ़पुर में दादाखाचर के दरबार को ही अपना घर मान लिया। उत्सव तथा विचरण के लिए वे अन्यत्र अवश्य पधारेते, परन्तु विचरण के बाद गढ़पुर ही उनका निवास स्थान था। भगवान भक्तों की प्रेमडोरी से बँध गए थे।

एक दिन जीवुबाई रथ में बैठकर कारियाणी से गढ़पुर आ रही थीं। अचानक उन्होंने देखा कि एक संत कुछ पीड़ा के कारण एक पेड़ के नीचे विश्राम ले रहे थे। उन्होंने कुछ आगे चलकर रथ खड़ा करवाया तथा रथ हाँकनेवाले को उस सन्त के पास भेजा। पूछताछ करने पर पता चला कि अखण्डानन्द स्वामी को दस्त हो रही थी। वे इतने कमजोर हो गए थे कि चलने की शक्ति नहीं बची थी।

महाराज के प्रिय सन्त का दुःख जीवुबाई से सहा नहीं गया। वे तुरन्त रथ से उतर पड़ीं और अपनी रेशमी रजाई बिछाकर रथ में बिस्तर बना दिया और सारथी को कहा, 'स्वामी को रथ में बिठाकर गढ़पुर पहुँचा दो, मैं पैदल चलकर आ जाऊँगी।'

वे अपनी दासी के साथ कड़ी धूप में नंगे पैर चल निकलीं। राजकुमारियों को इस तरह चलने की आदत तो होती नहीं। उनके पैरों में कई काँटें और कंकड़ चुभ रहे थे। कड़ी धूप में पैर जल रहे थे। परन्तु अपनी देह की परवाह किए बिना उन्होंने संतों की सेवा सिर पर उठा ली। श्रीहरि को जब इस बात का पता चला तो वे बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे : 'मेरे प्रिय सन्त की सेवा, मेरी ही सेवा के बराबर है।'

श्रीहरि पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर भी एक दिन जीवुबा ने महाराज से निवेदन किया कि, 'महाराज, आपने कृष्णावतार में जो लीला की थी, उसे देखने की इच्छा हो रही है। कृपया हमें उस लीला का दर्शन करवाइये।'

श्रीहरि ने तुरन्त फूल का गेंद लेकर आकाश में उछाला। एक सर्राटा हुआ। सबने ऊपर की ओर देखा तो आकाश में सारे अवतार और देवगण विमान में बैठकर श्रीहरि के दर्शन के लिए उपस्थित दिखाई दिए। आज श्रीहरि ने जीवुबाई के कहने पर सभी को अपनी सर्वोपरिता का दर्शन करवाया।

जीवुबाई का प्रत्येक क्रिया-कलाप भक्तिभाव से परिपूर्ण था। ज्ञान के विषय में भी वे उतनी ही विदुषी थीं।

एकबार श्रीहरि ने गुजरात के मूर्धन्य कवि लाडु बारोट को जीवुबाई तथा लाडुबाई के पास भेजा और कहा कि दोनों बहने विवाह के बाद भी अपनी ससुराल नहीं जाती और अध्यात्म की आराधना के लिए रुचि रखती हैं। आप उनको गृहस्थाश्रमी होने के लिए समझाएँ। श्रीहरि की आज्ञानुसार वे, दोनों बहनों को स्त्रीधर्म, गृहस्थाश्रम की आवश्यकता आदि विषयों पर उपदेश देने लगे तथा ससुराल जाने का भी आग्रह किया। जब उन्होंने बोलना बंद किया, तो जीवुबाई ने लाडुदानजी को सांख्यधर्म की ऐसी बातें कही कि सारे संसार एवं शरीर को नरक की थैली के समान दिखा दिया। उनके द्वारा किये गए वर्णन से लाडु बारोट के मन में विरक्ति छा गई। उन्होंने तुरन्त त्यागी होने का मन बना लिया। जीवुबाई का अनुभवज्ञान भी इतना प्रेरक और प्रभावशाली था।

संवत् 1916, ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी के दिन श्रीहरि के अखण्ड स्मरण के साथ उनकी आत्मा अक्षरधाम में सिधार गई।

स्वामी निर्गुणदासजी

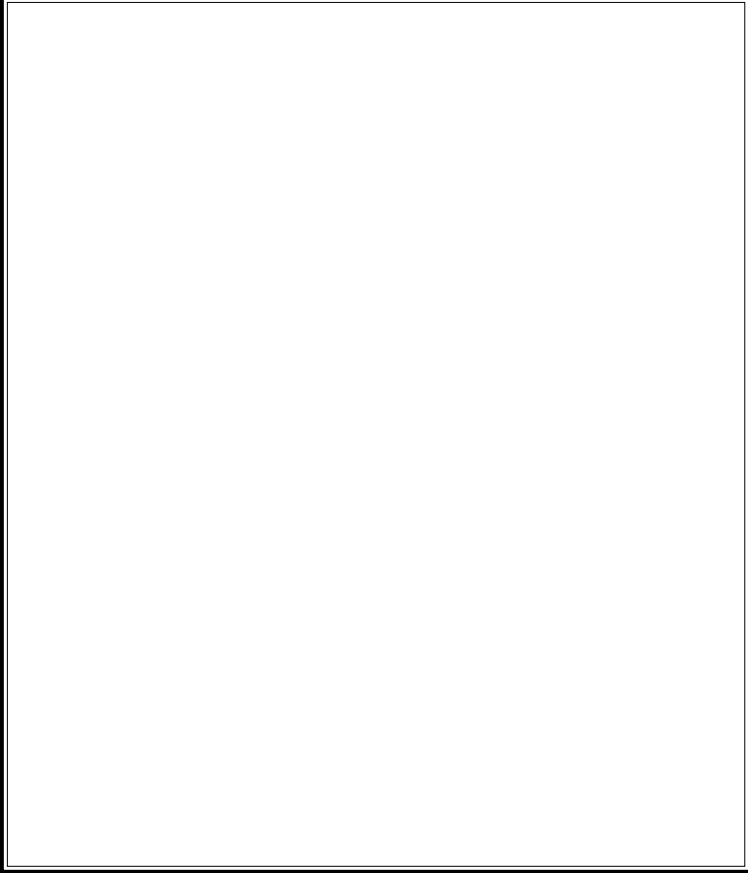
चारों ओर रात्रि की नीरव शान्ति फैली हुई थी। मन्दिर के प्रदक्षिणा पथ पर दो व्यक्ति आपस में ज्ञान-गोष्ठी कर रहे थे। अचानक प्रातःकाल चार बजे के डंके सुनाई दिए। पुजारी मंगला आरती के लिए मन्दिर में आए और देखा, तो विद्वान संतवर्य शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी और पीज गाँव के जेठाभाई ज्ञानवार्ता कर रहे थे।

‘अरे! आप लोग तो कल दोपहर से यहाँ बैठे हुए हैं, अभी तक बस वैसे ही बातें कर रहे हैं? बड़े धुनी हैं आप लोग!!’ पुजारीजी ने आश्चर्य व्यक्त किया। स्वामी यज्ञपुरुषदासजी ने केवल स्मित से ही उत्तर दिया। दोनों नित्यकर्म के लिए नीचे उतरे। दोपहर के साढ़े चार से लेकर प्रातः काल चार बजे तक ज्ञान सुननेवाले जेठाभाई अर्थात् स्वामी निर्गुणदासजी।

जेठाभाई वडोदरा-कलाभवन में शिक्षा प्राप्त करने आए थे। यहाँ शिक्षक गोविन्दभाई, शिवशंकरभाई, उल्लासराम पंड्या आदि हरिभक्तों से अक्षरपुरुषोत्तम उपासना की बातें सुनकर वे हमेशा मन्दिर आने लगे थे। यहाँ उनकी भेट शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी से हो गई।

सत्पुरुष हमेशा मुमुक्षु की खोज में ही रहते हैं। जेठाभाई भी पूर्वजन्म के संस्कारी योगभ्रष्ट आत्मा थे। यज्ञपुरुषदासजी पर उनको स्नेह-आदर बढ़ता चला। उस रात उन्होंने स्वामी यज्ञपुरुषदासजी द्वारा सत्संग के इतिहास तथा सिद्धांत की इतनी अद्भुत बातें सुनी कि उनके हृदय में अक्षर तथा पुरुषोत्तम के अनादि स्वरूपों की निष्ठा दृढ़ हो गई। भगतजी महाराज के द्वारा दोनों प्रत्यक्ष रूप में बिराजमान तथा वे ही आज मोक्ष के द्वाररूप परम एकान्तिक संत हैं, यह प्रतीति आते ही उनके ज्ञानचक्षु खुल गए थे। वचनामृत में निर्देशित गुणातीत संत के सभी सद्गुण उन्होंने भगतजी महाराज तथा शास्त्रीजी महाराज ने आत्मसात देखे और उन्होंने अपना जीवन गुरुचरणों में समर्पित कर दिया।

नडियाद के पास पीज नाम के छोटे से गाँव में पाटीदार परिवार में संवत् 1932 की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को जेठाभाई का जन्म हुआ था। बचपन से ही संसार के प्रति उदासीन रहने वाले जेठाभाई मन्दिर जाकर



स्वामी निर्गुणदासजी

सन्तों की सेवा करते, उनकी कथा सुनते और विचरण में भी चले जाते। डभाण के विद्वान सन्त शास्त्री योगेश्वरदासजी तथा जगतपावनदासजी के सत्संग से संप्रदाय के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता रहा था। गाँव के वरिष्ठ सत्संगी मूलजीभाई के साथ होनेवाली ज्ञानगोष्ठी में उनको भगतजी महाराज की महिमा का ज्ञान हुआ। पीज के मन्दिर में उनको अचानक एक दिन दिव्य स्वरूप में भगतजी महाराज का अद्भुत दर्शन हुआ। विशेष शिक्षा के लिए वडोदरा जाने के बाद उन पर सत्संग का रंग अधिक गहरा होने लगा।

वे सर्वप्रथम संवत् 1952 के कार्तिक मास में भगतजी का दर्शन करने के लिए नाव में बैठकर महुवा जाने को निकले। भरुच के श्रीमंत भक्तराज महाशंकरभाई दवे के पुत्र गणपतराम उनके साथ चले थे। अचानक समुद्र में तूफान शुरू हुआ, नाविक ने कहा, 'बचने की आशा तो बहुत कम है, भाइयों, आप चाहें तो अपने इष्टदेव का स्मरण कर लें।' जेठाभाई मन ही मन भगतजी महाराज की स्तुति करने लगे थे। बड़ी श्रद्धा पूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सहयात्रियों से कहा, 'भगतजी अवश्य हमारी रक्षा करेंगे। आप सब मेरे साथ नाम-स्मरण करें।' कुछ ही देर में तूफान शान्त हो गया और सब निर्विघ्न रूप से महुवा पहुँच गए।

जेठाभाई अच्छी तरह जानते थे कि मन्दिर के कुछ साधु-सन्तों और ब्रह्मचारियों को पसंद नहीं था कि कोई भगतजी को दण्डवत् प्रणाम करे। इसलिए गाँव के बाहर ही उन्होंने भगतजी का स्मरण करके उनको दण्डवत् प्रणाम कर लिया था। यह उनकी दूरदर्शिता थी।

भगतजी की सेवा और सत्संग से उनके मन में ब्रह्म का आनंद बढ़ने लगा। प्रतिदिन प्रातःकाल होते ही वे भगतजी के घर पहुँच जाते, ज्ञानगोष्ठी करते तथा भगतजी को मालण नदी में स्नान करवाते। मन्दिर में आकर भगतजी की कथा का निरंतर रसपान करने लगे।

फिर एकबार वे पीज के हरिभक्तों के संघ के साथ महुवा पहुँचे। उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक न था। उनका बिस्तर मन्दिर की ऊपरी मंजिल पर लगा था। भगतजी दर्शन देने के लिए वहाँ पधारे। वे उनके सिर पर हाथ फेरते हुए पास ही बैठ गए और कथा सुनाने लगे। जेठाभाई आनंद-विभोर हो गए। कुछ दिनों में वे स्वस्थ तो हो गए, परन्तु कमजोरी ज्यादा दिखाई

देती थी। उन्होंने सोचा, यदि भगतजी मुझे गले से लगा कर आशीर्वाद दें, तब मेरा सभी दर्द भी मिट जाए। वे बिस्तर छोड़कर अकेले निकल पड़े और भगतजी के घर पहुँचे। उस समय भगतजी महाराज लेटे हुए थे। जेठाभाई को देखते ही वे तुरन्त उठ बैठे। अंतर्दामी रूप से उन्होंने उसी पल कहा, 'आज तो तुम्हें स्वस्थ करना ही है; चलो मिलते हैं।' इतना कहकर उन्होंने जेठाभाई का मनोरथ तुरन्त पूर्ण कर दिया।

भगतजी महाराज के आदेश से संवत् 1953 में उन्होंने पार्षदी दीक्षा ली। उसके बाद वे विहारीलालजी महाराज के साथ रहने लगे। वे, उनके निजी सेवक के रूप में रहकर पत्रव्यवहार तथा साहित्यिक सेवा करने लगे। अपनी कार्यशक्ति, विवेकदृष्टि और वैराग्यभावना के कारण कुछ ही समय में वे महाराज श्री के प्रीतिपात्र सेवक बन गये।

संवत् 1953 में आचार्य श्री ने उनको मुंबई स्थित स्वामीनारायण मन्दिर के कोठारी पद पर नियुक्त कर दिया। तत्पश्चात् वे बड़ोदरा, जूनागढ़, गढ़डा आदि मन्दिरों में भी कोठारी के पद पर सेवा करते रहे।

महुवा में जब भगतजी महाराज ने अंतिम बीमारी ग्रहण की और अपने देहोत्सर्ग का संकल्प किया, तब मुंबई में सेवा कर रहे जेठा भगत को पत्र लिखकर अपने पास सेवा के लिए बुला लिए। वे तुरन्त अपनी सेवा अन्य संतों के हाथों में सौंप कर अति शीघ्र महुवा जा पहुँचे। भगतजी ने उन्हें निजी सेवा का अनन्य लाभ दिया। लगातार तेईस दिनों तक उन्होंने दिन-रात देह की परवाह किए बिना भगतजी महाराज की सेवा की और उनकी अपार प्रसन्नता प्राप्त की। उनको आशीर्वाद देते हुए भगतजी महाराज ने कहा था कि 'तुम पर भगवान और महान सन्तों की कृपा दृष्टि निरंतर बनी रहेगी।'

उस समय स्वामी यज्ञपुरुषदासजी राजकोट रहकर विद्याभ्यास कर रहे थे। जागा भक्त उन दिनों जूनागढ़ में थे। यज्ञपुरुषदासजी की इच्छा से - जेठा भगत ने मुम्बई के कोठारीपद का त्याग करते जूनागढ़ आकर छः महीने तक जागा भक्त का सत्संग किया। वे कोठार में भी सहायता किया करते थे। उनको जूनागढ़ के महान सद्गुरु स्वामी बालमुकुन्ददासजी, सद्गुरु धर्मस्वरूपदासजी, सद्गुरु नारायणदासजी एवं सद्गुरु कृष्णचरणदासजी का भी सत्संग प्राप्त हुआ। भगतजी महाराज एवं जागा भक्त के आशीर्वाद तथा

कृपा के कारण उनके हृदय में अक्षरपुरुषोत्तम उपासना की अनन्य दृढ़ता हुई।

उन दिनों सम्प्रदाय में शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी की प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही थी। उनके साथ द्वेष रखनेवाले साधुओं ने अन्य साधुओं से कहा था कि शास्त्री ने छोटी उम्र के आचार्य लक्ष्मीप्रसादजी महाराज के साथ अनादर पूर्ण व्यवहार किया है तथा उपासना प्रवर्तन के नाम से वे अपनी मनमानी किया करते हैं।

ऐसी गलत बातों के प्रचार से वड़ताल स्थित द्वेषी सन्तों का रोष बढ़ता जा रहा था। उन दिनों गुणातीतानन्द स्वामी के कृपापात्र शिष्य कृष्णजी अदा और तथा अन्य प्रतिष्ठित हरिभक्तों के आग्रह पर शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी तथा उनके हितैषी सन्त वड़ताल से अलग हुए। कोठारी जेठा भगत भी यज्ञपुरुषदासजी के साथ ही अक्षपुरुषोत्तम के निष्ठा प्रवर्तन के यज्ञ की आहुति बनकर निकल पड़े।

संवत् 1962 की वसन्तपंचमी के उत्सव में वढवाण के आचार्य कुंजविहारीप्रसाद महाराज ने जेठा भगत को भागवती दीक्षा देकर स्वामी निर्गुणदासजी नामाभिधान दिया।

सनातन वैदिक शास्त्रों में उल्लिखित अक्षरपुरुषोत्तम उपासना की प्रवृत्ति का स्वर्णयुग प्रारम्भ हो गया था। प्रारम्भ के दिन असह्य विघ्नों से भरे पड़े थे। परन्तु शास्त्रीजी महाराज के साथ निर्गुणदास स्वामी ने उपासना का परचम चरम पर लहरा दिया। सम्प्रदाय में प्राप्त गौरवपूर्ण सत्ता, तथा भौतिक ऐश्वर्य को टुकराकर, उन्होंने शुद्ध निष्ठा के प्रचार के लिए तथा स्वामीश्री की प्रसन्नता के लिए अपने देह की परवाह तक नहीं की। मान-अपमान में वे निश्चल रहें। विरोधियों के सामने वे निर्भय रहे। क्योंकि भगतजी महाराज तथा जागा भक्त द्वारा प्राप्त ज्ञान से उन्होंने रक्षा-कवच पहन लिया था। चारों ओर असह्य विरोध, तिरस्कारों की बाढ़ एवं धमकियों का सिलसिला लगातार चल रहा था, परन्तु वे स्वामीश्री के समर्पित साथी बन चुके थे। किसी के साथ उनका कोई शिकवा-गिला नहीं था।

वे कई बार कह चुके थे कि मुझे काषाय वस्त्र पहनने का उपदेश देने की हिम्मत किसी ने नहीं की। केवल शास्त्रीजी महाराज ने ही कहा, 'तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारा ज्ञान और ऐसी कार्यशक्ति काषाय वस्त्र में जिस प्रकार देदीप्यमान होगी, वेसी अन्यत्र कहीं भी होना असंभव है।' इन शब्दों

ने मुझ पर ऐसा जादू किया कि तुरन्त मैंने त्यागश्रम स्वीकार कर लिया।

उनका प्रभाव अनन्य था। जब वे वड़ताल में थे, तब किसी साधु में ऐसी हिम्मत नहीं थी कि वे भगतजी महाराज एवं जागा भक्त के विरुद्ध एक भी शब्द बोले। अरे, कोई निंदात्मक सुर में 'प्रा' या 'जा' बोलने का भी साहस नहीं कर सकता था, ऐसे शूरवीर संत थे, स्वामी निर्गुणदासजी।

त्यागी होने के बाद वे सत्ताधीश होने का गुमान भूलकर दासानुदास होकर सेवा कार्य निभा रहे थे। मन्दिरों की नींव खोदना, भिक्षा माँगना, हरिभक्तों की अनेक प्रकार की सेवा-सहायता करना, उनका सुदृढ़रूप से पक्ष रखना आदि में वे बेमिसाल साबित हुए। उपासना के कार्य में स्वामीश्री का साथ देते हुए मौत को भी मुठ्ठी में लेकर घूमने वाले निर्गुणदासस्वामी का जीवन मंत्र था:

'रंग सहित हरिने रटीए, रे हांक वागे पाछा नव हटीए ।

ब्रह्मानन्द कहे त्यां मरी मटीए, रे शिर साटे नटवरने वरिए ॥'

अर्थात् उत्साहपूर्वक हरिस्मरण करके जब भी महान संतों की पुकार हो, हमें आगे ही आगे बढ़ना चाहिए। ब्रह्मानन्दजी कहते हैं कि भगवान के आदेश के अनुसार रहने पर यदि जान देना पड़े, तो भी हमें तैयार रहना चाहिए। हमें ऐसी साधना करके भगवान के स्वरूप का वरण करना है।

वे इस पद का गान हमेशा किया करते थे। ज्ञानचर्चा और ज्ञानप्रचार की उनकी लगन उनको दिन-रात सोने नहीं देती थी।

'स्वामी और नारायण अर्थात् अक्षर एवं पुरुषोत्तम, आत्मा और परमात्मा, तथा ब्रह्म एवं परब्रह्म, इस उपासना मंत्र को उन्होंने आत्मसात् किया था। वे हमेशा कहा करते थे कि 'वर्तमानसमय में स्वामी तथा श्रीजी का प्रत्यक्ष स्वरूप स्वामीश्री शास्त्रीजी महाराज है, उनके स्वरूप में निष्ठा करने से भगवान का धाम कभी दूर नहीं होता।' इसके उपरांत 'वचनामृत', 'गीता' और 'श्रीमद् भागवत' के आधार पर धर्म के रहस्यों को समझाने में वे अत्यन्त उत्साहित रहते थे। नए-नए मुमुक्षुओं को पूरे जोश के साथ अपनी बात समझाना, उनकी लाक्षणिकता थी। पत्रव्यवहार उनका ऐसा ही विलक्षण अंग था। वे पुस्तक आकार के बड़े-बड़े पत्र लिखकर अफ्रिका तक सत्संग प्रचार के सफल अग्रणी रहे थे।

पारायणपर्व हो या, उत्सव, ज्ञानसत्र हो या मूर्तिप्रतिष्ठा सर्वत्र वे स्वामीश्री के साथ दिखाई देते थे। हरिभक्तों के साथ उनका इतना आत्मीय व्यवहार था कि किसी भी हरिभक्त को वे दुःखी नहीं देख पाते। कथा में वचनामृत ग्रंथ पर उनका पूरा अधिकार देखा जाता था। उनकी निरूपण शैली भी अद्भुत थी। सत्संग की प्रवृत्ति के विषय में कोई निर्णय लेना हो या छोटे-बड़े कार्यों की व्यवस्था करनी हो, स्वामीश्री हमेशा उनको अपने साथ रखते थे। सरकारी कामकाज तो वे ही करते थे। किसी भी बड़े से बड़े अधिकारी से मिलने में उन्हें कभी कोई संकोच नहीं होता था।

समैया और उत्सवों में वे सुन्दर व्यवस्था करते थे। छोटे-बड़े सभी हरिभक्तों की सुविधा का वे सदैव ध्यान रखते थे और स्वयं उनकी सेवा करते थे। रात को लालटेन हाथ में लेकर प्रत्येक हरिभक्त के निवासस्थान पर पहुँच जाते थे। किसी को बिछौना आदि की कमी हो, तो वे स्वयं उस कमी को पूरा करने का प्रयास करते थे। किसी के पास ज्यादा हो, तो वह ले भी लेते थे और जिसे आवश्यकता होती, उसे दे देते थे। बाहरगाँव से रात को देर से आनेवाले हरिभक्तों के लिए वे व्यवस्था कर देते थे।

प्रतिवर्ष गुजरात के बाहर खानदेश में भी सत्संग के प्रचार के लिए वे जाते थे। वहाँ पहले गुजरात से आकर यहाँ बसे हुए हरिभक्त बड़े प्रेमी थे। निर्गुण स्वामी उनको शास्त्रीजी महाराज की महिमा समझाते थे। संवत् १९७५ में यहीं पर वसन्तपंचमी के समैये का उन्होंने आयोजन किया। इस मौके पर शास्त्रीजी महाराज एवं अन्य संतगण के साथ ही बहुत से हरिभक्त भी वहाँ पहुँचे। देहातों से आनेवाले हरिभक्त बड़े भोलेभाले, सरल एवं निर्दोष थे। शास्त्रीजी महाराज के प्रति उनके हृदय में अपार सद्भाव था। उनका यह सद्भाव देखकर शास्त्रीजी महाराज ने उनको अपार सुख दिया। निर्गुणदास स्वामी ने इन सारे हरिभक्तों को शास्त्रीजीमय बना दिया था। वे स्वयं समर्थ होते हुए भी सभी हरिभक्तों को हमेशा स्वामीश्री के साथ जोड़ देते थे। स्वयं उनके दास बनकर ही रहते थे।

खानदेश में एक हरिभक्त को निर्गुण स्वामी ने पुत्र-प्राप्ति के लिए मनौती की थी। वही व्यक्ति स्वामीश्री (शास्त्रीजी) के पास मनौती लेने को आया, तो स्वामीश्री ने अन्तर्यामी भाव से सबकुछ जानकर कह दिया,

‘निर्गुण स्वामी ने मनौती लिवाई है न? उनकी दी हुई मनौती अवश्य सफल होगी।’ इस अवसर पर स्वामीश्री ने खानदेशी हरिभक्तों को निर्गुणदासजी की अपार महिमा समझाई।

अनेक स्थानों पर मन्दिरों के निर्माण का काम चल रहा था; इसलिए स्वामीश्री भी अविरत विचरण करते रहते थे। आज गुजरात में, तो कल सौराष्ट्र में। निर्गुणदास तो उनके साथ परछाई की तरह रहते थे। सतत सत्संग की प्रवृत्ति चलती थी। सत्संग में से किसी की रुचि कम होती, तो देखते ही वे तुरन्त उसके पास पहुँच जाते और वचनामृत तथा सत्संग के ग्रन्थों का उदाहरण देकर स्वामी-श्रीजी और प्रकट स्वरूप की निष्ठा दृढ़ कराते। वे हरिभक्तों की देखभाल करते तथा सत्संग से किसी को हटने नहीं देते थे।

स्वामीश्री की आज्ञा से वे ईश्वरभाई प्रभुदास पटेल के साथ आचार्य लक्ष्मीप्रसाद महाराज के पुत्र राधारमणप्रसाद को लेने के लिए छपैया गए थे। यहाँ उनकी दीदी ने राधारमणप्रसाद को भेजने से इन्कार कर दिया। वापस लौटते समय वे घोड़ी पर सवार होकर स्टेशन जा रहे थे। एकाएक वे घोड़ी पर से गिर पड़े और पेट तथा सिर में चोट लग गई; जिसके कारण उन्हें असह्य वेदना हो रही थी। गाँव के लोगों ने बहुत सेवा-सुश्रूषा की; फिर भी पीड़ा कम न हुई। उन्होंने सोचा कि अब धाम में पहुँचने का समय निकट है, अतः उन्हें, स्वामीश्री की याद आई। उनके अन्तिम दर्शन करने की इच्छा से वे, मन ही मन भगवान से प्रार्थना की।

फलस्वरूप महाराज ने उन्हें दर्शन दिया। उस समय श्रीहरि माणकी घोड़ी पर बिराजमान थे और दूध से भरी चाँदी की लुटिया उनके हाथ में थी। महाराज ने उनके शरीर को सहलाया, दूध पिलाया, अमृत औषधितुल्य दुग्ध का पान कराया। इस प्रकार दर्शन और स्पर्श से उनकी वेदना शान्त हुई। दूसरे दिन सुबह वे बिल्कुल स्वस्थ हो गए और काशी के लिए रवाना हो गये। वहाँ से ईश्वरभाई और श्रीजीस्वरूपदास के साथ गुजरात पधारे।

निर्गुण स्वामी की बार-बार पधरावनी और पत्रव्यवहार के कारण मुंबई में भी सत्संगियों की संख्या बढ़ने लगी थी। कभी-कभी उनके साथ स्वामीश्री भी मुंबई पधारते थे। मुंबई में जब वे कोठारी के पद पर थे, तब मोतीलाल फौजदार तथा रामजी केशवजी आदि कई हरिभक्तों को उन्होंने

स्वामीश्री शास्त्रीजी महाराज की अपार महिमा बताई थी। हरिभक्तों को सहायता करने की उदार भावना के कारण छोटे-बड़े सभी हरिभक्तों को उनके प्रति स्वाभाविक रूप से सद्भाव पैदा हो ही जाता था।

उनकी प्रकृति कुछ तेज अवश्य थी और किसी काम अथवा व्यवस्था में गड़बड़ी देखकर वे कुछ गुस्सा भी कर जाते थे। कभी किसी को दो शब्द सुना भी देते थे; लेकिन किसी के प्रति मन में कभी गाँठ नहीं रखते थे। वे हृदय के शुद्ध, प्रकृति के सरल, बनी-बिगड़ी को तुरन्त भूल जानेवाले तथा अपनी भूल का पता चलते ही निःसंकोच भाव से क्षमा माँग लेनेवाले थे।

एक बार कई हरिभक्तों ने मिलकर स्वामीश्री से पूछा, 'वर्तमानकाल में महाराज-स्वामी को प्रसन्न करने के लिए क्या करना चाहिए?' 'अक्षरपुरुषोत्तम के मन्दिरों का निर्माण' स्वामीश्री ने फौरन् उत्तर दिया। साथ-साथ यह भी कहा, 'इस काम में तन, मन, धन से जो थोड़ी-सी भी सेवा सहायता करेगा, उसको महाराज स्वयं शुद्ध ब्रह्मरूप बनाकर अक्षरधाम में ले जाएँगे।' निर्गुण स्वामी तुरन्त ही बोले, 'इसके साथ ही भगतजी महाराज तथा विचरण कर रहे प्रकट स्वरूप स्वामीश्री शास्त्रीजी महाराज की महिमा का प्रसार करने से भी महाराज - स्वामी को प्रसन्नता होगी।'

यह सुनकर सभी लोग खुश तो हुए ही, किन्तु निर्गुण स्वामी के रोम-रोम में प्रकट की महिमा भरी हुई है, इसका परिचय भी सबको हुआ।

धर्मप्रचार के लिए वे, देश में अविरत विचरण करने के साथ ही निरन्तर पत्रव्यवहार भी करते रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अफ्रीका की धरती पर भक्तराज हरमानभाई और मगनभाई द्वारा सत्संग का प्रारम्भ भी करवाया। इतना ही नहीं, अफ्रीका जैसे देश में उन्होंने अक्षरपुरुषोत्तम की निष्ठा दृढ़ कराने के लिए एक 'पत्रमाला' प्रारम्भ की, जो बहुत समय तक चलती रही। उस पत्रमाला के पन्नों की संख्या कोई दो-चार नहीं, बल्कि सौ-सौ पन्नों तक के भी होते थे। वे पत्र अलग-अलग हरिभक्तों के नाम, अलग-अलग विषय पर बिना टीका-टिप्पणी के लिखते थे। उनके इन पत्रों का आलेखन वचनामृत और सत्शास्त्रों के प्रमाणों के साथ ही किया जाता था। उनकी ममता एवं सद्भावना के कारण अफ्रीका के हरिभक्त उनके पत्र बड़े प्रेम से पढ़ते थे; उन पर चिन्तन करते थे और जीवन में उसे उतारने की

कोशिश भी करते थे।

लम्बे-चौड़े पत्र लिखते देख निर्गुण स्वामी से कोई पूछता, 'यह सब क्या कर रहे हैं?' तो वे अपनी ओजस्वी शैली में कहते, 'मैं अपने को इसलिए भाग्यवान मानता हूँ कि मुझे सेवा का अवसर मिला है।'

हरिभक्तों के अतिशय आदर के पात्र होते हुए भी उनसे कोई लाभ उठाना, वे पसंद नहीं करते थे क्योंकि वे बहुत निःस्पृही थे। अफ्रीका के एक हरिभक्त ने उनके लिए एक गरम कम्बल भेजा था। भेजनेवाले हरिभक्त की यह इच्छा थी कि वे उसका इस्तेमाल करें तो अच्छा। लेकिन उन्होंने वह अच्छा कम्बल गुरुजी के चरणों में अर्पण कर दिया।

ऐसा ही एक अन्य प्रसंग भी है।

अफ्रीका से कुछ शिलिंगों का पोस्टल ऑर्डर डाक से आया था। उसके साथ में एक चिट्ठी थी, जिसमें लिखा था, 'आप काफी पत्र यहाँ लिखते हैं, तो ये पैसे आप डाक-टिकट में खर्च कीजिएगा।' यह पढ़कर निर्गुण स्वामी नाराज हो गए। वह धनराशि, उन्होंने तुरन्त वहाँ के कोठार में जमा करवा दी और उस हरिभक्त को मीठा उलाहना देते हुए पत्र लिखा, 'इस तरह कोई भी रकम मुझ को न भेजे, क्योंकि मेरी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ मुझे कोठार से मिल जाती हैं।'

सत्संग के प्रचार के महत्त्वपूर्ण कार्य को वेग देने के कारण उनकी प्रतिष्ठा बढ़ रही थी; फिर भी योगीजी महाराज की साधुता और ज्ञानसमृद्धि के आगे वे हमेशा अपने आपको बहुत-छोटा मानते थे। वे सभी को समझाते थे कि 'इन योगी महाराज को पहचान लेना, सब इनको पहचान सकें, ऐसे साधु ये नहीं हैं।'

बोचासण में समैया था। मन्दिर के एक कोने में ढेर-सारा कूड़ा पड़ा हुआ था। उस पर स्वामीश्री की दृष्टि पड़ी, जिसे निर्गुण स्वामी ने भी देख लिया। फिर क्या था, कछोटा मारकर, हाथ में फावडा लेकर वे तैयार हो गए। सुबह से शाम तक परिश्रम करके गन्दे कचरे का वह बड़ा-सा ढेर उन्होंने अकेले ही साफ कर दिया। ऐसे निम्न स्तर की सेवा भी वे कहीं न कहीं खोज ही लेते थे।

मन्दिर में कहीं भी गन्दगी हो या अव्यवस्था हो, तो वे खुद उसे साफ

करने के लिए तैयार हो जाते थे। उत्साह और आनन्दपूर्वक वे कुछ ही क्षणों में ठीक कर देते थे। स्वामीश्री शास्त्रीजी महाराज की 80वीं जन्मजयंती एवं सुवर्णजयन्ती जैसे महान उत्सवों में उन्होंने अपनी अप्रतिम कार्यशक्ति एवं गुरुभक्ति का परिचय दिया था।

उनकी तबियत जब बिगड़ी, तो उनको मुंबई ले जाया गया। बीमारी और अशक्ति के कारण वे प्रायः अस्वस्थ रहते थे। स्वामीश्री हमेशा उनको आश्वासन और साहस देते रहते थे। उनको जब यह लगा कि अन्तिम समय नजदीक है, तो उन्होंने स्वामीश्री से निवेदन किया : 'मेरा कोई अपराध हुआ हो अथवा आपकी रुचि के अनुसार मैं सेवा न कर सका होऊँ, तो क्षमा कीजिएगा। अब मुझे धाम पहुँचा दीजिए।'

स्वामीश्री की दाहिनी भुजा, शूरवीरता की मूर्ति तथा सत्संग के महारथी सन्तवर्य निर्गुण स्वामी, उस दिन असहाय स्थिति में सोए हुए थे। यह प्रार्थना सुनकर स्वामीश्री गद्गद हो गये और कहने लगे, 'अभी तो हम लोग गढ़डा मन्दिर में आरती उतारने जानेवाले हैं। हिम्मत रखो, महाराज सब कुछ ठीक कर देंगे।' इस प्रकार हिम्मत देकर-आश्वासन के वचन कहकर स्वामीश्री ने उनके शरीर को सहलाया।

इसके बाद उनकी बीमारी बढ़ती ही गई। उपचार के लिए मुंबई के निकट पेण गाँव में उनको ले जाना तय हुआ। स्वामीश्री से दूर जाने की उनकी बिल्कुल इच्छा नहीं थी। वे स्वयं समझ गए थे कि उनका अन्तिम समय आ गया है; फिर भी स्वामीश्री की आज्ञा को शिरोधार्य करके, वे पेण जाने को तैयार हुए। पेण जाते समय स्वामीश्री ने उनके सिर पर हाथ फेरा। उनकी देह को सहलाया और कहा : 'महाराज जल्दी स्वस्थ कर देंगे और हमलोग स्वस्थ अवस्था में फिर मिलेंगे।'

यह आशीर्वाद देते हुए स्वामीश्री, निर्गुण स्वामी की ओर अनिमेष दृष्टि से देखते रहे। जीवनभर के साथी, सुख-दुःख और मान-अपमान के प्रत्येक प्रसंग में ढाल बनकर खड़े रहनेवाले, सत्संग के शूरवीर, संतवर्य निर्गुण स्वामी का वह अन्तिम दर्शन था! एम्ब्युलन्स के जाने के बाद स्वामीश्री अपने कमरे में आकर एकाएक नीचे बैठ गए। वातावरण में गम्भीरता छा गई।

स्वामीश्री और सत्संगी समाज से दूर हो जाने के बाद, उनका स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया। स्वामीश्री की अनुमति मिलते ही, उनको आणंद ले जाया गया। वहाँ पर उनकी उपस्थिति में अखण्ड धुन, कीर्तन और कथावार्ता प्रारम्भ हो गई। कभी-कभी हरिभक्तों के साथ स्वामीश्री को संदेशा भिजवाते थे, 'स्वामीश्री को मेरी ओर से जय स्वामिनारायण कहना और कम से कम एक बार दर्शन देने की कृपा करें, इतना मेरी ओर से उनको निवेदन करना।' स्वामीश्री की ओर से कुछ भी समाचार मिलते ही उनका चेहरा मारे खुशी के प्रफुल्लित हो जाता था। उसी समय अहमदाबाद में स्वामीश्री ने भी एकाएक बीमारी ग्रहण कर ली।

इस तरफ निर्गुण स्वामी की स्थिति विशेष गम्भीर हो गई। महाराज, स्वामी, शास्त्रीजी महाराज और भगतजी महाराज के नाम की अखण्ड धुन प्रारम्भ हो गई। संवत् 2006 ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी, मंगल को सुबह 10.45 बजे उन्होंने स्वेच्छा से देह छोड़ दी और वे अक्षरधाम में महाराज की सेवा में बिराजमान हो गए।

देश से लेकर अफ्रीका तक के हरिभक्तों को अक्षरनिष्ठा की जनमघूँटी का रसपान करानेवाले, यह समर्थ पुरुष, प्रेम और समर्पण की साक्षात मूर्ति थे। वे दुःखियों के साथी एवं गरीबों के सहभागी थे। गुणातीत के ज्ञान-उपवन को विकसित करने में उनका बहुत बड़ा योगदान था। उस पुरुष ने हज़ारों हरिभक्तों के अन्दर अक्षरपुरुषोत्तम की निष्ठा के संस्कार का सिंचन करके, इस मृत्युलोक से चिरबिदाई ली।

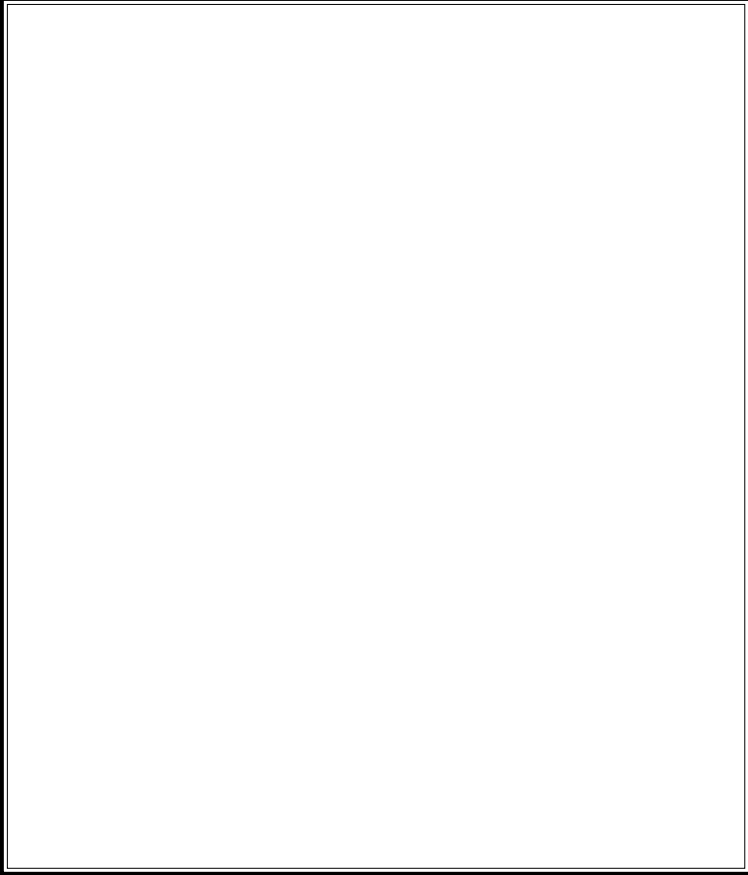
स्वामी यज्ञप्रियदासजी

श्रीजी के चरणकमलों से अंकित उनकी प्रसादीरूप उस साधु की धर्मशाला थी। छोटी सी जगह में भी भक्तों की भीड़ देखकर आशाभाई को आश्चर्य हुआ। उस विशाल भक्त मण्डल के केन्द्र में भरत का आख्यान सुनानेवाले एक अति तेजस्वी पुरुष के दर्शन उनको हुए। आँखें उस पुरुष पर स्थिर हो गईं और पाँव रुक गए। उनके साथ आए हुए पथप्रदर्शक ने आशाभाई को सचेत किया, 'यहाँ खड़े रहने में सार नहीं है।' आशाभाई का शरीर घीसटता गया, लेकिन उनका मन वहीं चिपक गया था। ऐसा था शास्त्रीजी महाराज का यह प्रथम दर्शन!

वड़ोदरा के पास साधी नामक एक गाँव है। वहाँ के निवासी आशाभाई और ईश्वरभाई - दोनों मुमुक्षु भाइयों का एक सुखी संसार था। उस गाँव में एक रामानन्दी मन्दिर था, जिसका कारबार ये दोनों भाई ही संभालते थे। आशाभाई प्रत्येक पूर्णिमा को रणछोडराय के दर्शन के लिए डाकोर जाते थे। वहाँ कुछ धर्मविरुद्ध आचरण देखकर उनके हृदय में बहुत क्षोभ होता था। एक दिन रात को अचानक रणछोडराय ने स्वप्न में उनको दर्शन दिए और कहा, 'यदि तुम कल्याण चाहते हो, तो स्वामिनारायण भगवान की शरण में जाओ। आज वे संसार में सत्संग के माध्यम से प्रकटरूप में विचरण कर रहे हैं।'

कुछ दिनों के बाद उस गाँव में ही स्वामिनारायण के कुछ सन्त पधारे। वे उनके दर्शन को गए। उन्होंने सेवा करने की अपनी इच्छा प्रकट की तो संतों ने कहा, 'यदि तुम स्वामिनारायण भगवान का आश्रय लो, तो हम तुम्हारी रसोई ग्रहण करेंगे।' इतना सुनते ही वे, सन्तमण्डल के प्रमुख साधु धर्मनन्दनदास के पास पहुँचे और उनसे आशाभाई ने पंचव्रत पालन की दीक्षा ली। इसके बाद वे वड़ताल दर्शन के लिए गये। वहाँ का अद्भुत मन्दिर, वहाँ के सन्तों एवं हरिभक्तों को देखकर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई और शास्त्रीजी महाराज के अचानक दर्शन से उनकी आत्मा को अपार शान्ति हुई।

उसके बाद जब शास्त्रीजी महाराज साधी पधारे, तब आशाभाई को उनकी कुछ विशेष महिमा का परिचय हुआ। उनके सत्संग से आशाभाई के



स्वामी यज्ञप्रियदासजी

मन का समाधान हुआ। कल्याण की प्रतीति हुई और शास्त्रीजी महाराज के चरणकमलों में स्वाभाविक रूप से उनका मस्तक झुक गया। स्वामीश्री के प्रति सद्भाव बढ़ता गया। उनके वचनों पर श्रद्धा-विश्वास पैदा हुआ। कुछ ही समय में अक्षर के साथ पुरुषोत्तम की उपासना का रहस्य वे समझ गये। स्वामीश्री की आज्ञा से वढवाण के मन्दिर में अक्षरपुरुषोत्तम भगवान की प्रतिष्ठा हो, इसके लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया।

कुछ व्यावहारिक प्रतिकूलताओं के कारण आशाभाई ने छोटा उदेपुर में खेती के लिए थोड़ी जमीन ले रखी थी। वे वहाँ जाना चाहते थे, लेकिन स्वामीश्री ने उनको मना कर दिया। फिर भी आर्थिक आवश्यकता को महसूस करते हुए, वे वहाँ पहुँचने का लालच न रोक सके। उनकी मानसिक अस्वस्थता को समझकर स्वामीश्री ने दृढ़तापूर्वक कहा, 'तुम यदि हमें महान व्यक्ति मानते हो, तो मेरा कहना मानकर वहाँ जाने की जिद्द छोड़ दो और समझ लो कि तुम्हारे सारे दुःख मेरी गद्दी के नीचे दबे हैं।' स्वामीश्री के वात्सल्यपूर्ण इन शब्दों को सुनकर आशाभाई का हृदय द्रवित हो गया और मानसिक शान्ति मिल रही हो ऐसा चमत्कारिक अनुभव हुआ। स्वामीश्री की आज्ञा को शिरोधार्य करके वे छोटा उदेपुर नहीं ही गये। इस प्रसंग के बाद वे स्वामीश्री के विशेष निकट आ गए।

द्वेष की बाढ़ उमड़ रही थी। न चाहते हुए भी उनको वड़ताल छोड़ना ही पड़ा। आशाभाई इस प्रसंग के साक्षी हैं। सम्प्रदाय के हज़ारों त्यागी महापुरुषों के बीच में ध्रुवतारा की भाँति चमकते इस सन्तवर्य का, इस तरह का वनवास हरिभक्त कैसे सह सकते हैं? आशाभाई जैसे अनेक मुमुक्षुओं ने धन, धाम और परिवार के साथ अपने आपको स्वामीश्री के चरणों में समर्पित कर दिया।

स्वामीश्री ने धीरे-धीरे समैया और पारायणों का आयोजन आरम्भ कर दिया। ऐसे प्रत्येक प्रसंग पर आशाभाई और ईश्वरभाई, स्वामीश्री के दर्शन के लिए जाते थे। बोचासण और सारंगपुर में मन्दिर-निर्माण का जो काम चल रहा था, उसमें वे तन, मन, धन से सेवा करते थे। स्वामीश्री को अचानक धन की आवश्यकता पड़ने पर, इनकी ही ओर ताकते और ये भ्राता-द्वय उनके आदेशानुसार कहीं से भी धन लाकर अर्पित करते।

साधी में पुराने सम्प्रदाय के हरिभक्त अधिक थे, इसलिए शास्त्रीजी महाराज वहाँ विशेष नहीं जाते थे। इसीलिए वहाँ के ये सारे हरिभक्त उनकी सेवा से वंचित रहते थे। उन्होंने साधी गाँव छोड़ने का पक्का निश्चय कर लिया और कहीं पर भूमि खरीदने के लिए स्वामीश्री से बातचीत की। स्वामीश्री ने वड़ोदरा के निकट आजवा रोड पर भूमि खरीदने की सलाह दी।

बोचासण के समैया में सारी बातें तय कर ली गई। स्वामीश्री स्वयं इक्के में बैठकर उनके साथ गये। भूमि के विषय में उनको रस था ही और हरिभक्तों के प्रति ममता-सद्भाव भी। स्वामीश्री की आज्ञा से जेसंगपुरा में आशाभाई ने भूमि खरीदी। स्वामीश्री की प्रेरणा से रदु के निकट भी कुछ भूमि ली। इसमें से कुछ भूमि अलग-अलग हरिभक्तों के द्वारा खरीदी गई। इससे जो कुछ मुनाफा हुआ वह सारंगपुर मन्दिर को अर्पण कर दिया गया। परस्पर आत्मीयता बढ़े, इस उद्देश्य से सहकारी भाव से खेती करना स्वामीश्री ने हरिभक्तों को सिखा दिया।

एक समय आशाभाई ने सयाजीपुरा में अपनी जमीन पर हरिभक्तों को बुलाकर होली खेलाना चाहा, लेकिन स्वामीश्री ने उसके बदले किसी बड़े उत्सव का आयोजन करने को कहा। कई गाँवों में हरिभक्तों को आमंत्रण भेजे गए, समय बहुत ही कम था; फिर भी कुछ मित्रों की सहायता से वड़ोदरा के पीरासखाने में से शामियाने, खेमे, चंदोवा, दरियाँ, रसोई के बरतन आदि छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ प्राप्त की। 40 बैलगाड़ियाँ किराये पर लेकर यह सारा सामान सयाजीपुरा पहुँचा दिया गया। स्वामीश्री की आज्ञा लेकर पुराने पाँच मकान रात में ही तुड़वा डाले और उस जगह शामियाने खड़े कर दिये। गुजरात के बड़े-बड़े पाटीदार (पटेल) और वड़ोदरा के अधिकारीगण व हजारों हरिभक्त इस समैया में उपस्थित थे। इस प्रसंग पर स्वामीश्री ने भागवत और सत्संगिजीवन में से भक्ति और ज्ञान के कई अद्भुत कथानक कहे। निर्गुणदास स्वामी, महापुरुषदास स्वामी, विज्ञानदास स्वामी आदि सन्तों ने प्रसंगानुसार साधु-महिमा की बातें कहीं। प्रातः-सायं हरिभक्तों के भोजन के लिए पीढ़े, जर्मन सिल्वर की थालियाँ, रंगावली, उदबत्ती आदि साधनों के द्वारा आदर्श व्यवस्था की जाती थी।

प्रतिदिन नई-नई मिठाइयाँ और साथ में विविध प्रकार के भोजन परोसे

जाते थे। आशाभाई और ईश्वरभाई ने सन्तों और हरिभक्तों के स्वागत के लिए अपनी समृद्धि समर्पित कर दी थी। पूर्णिमा के दिन पूर्णाहुति थी। उस दिन स्वामीश्री और सन्तों की उन्होंने पूजन-आरती की। दक्षिणा भेंट रखी एवं सबको धोतियाँ अर्पित कीं। सभी सन्तों एवं हरिभक्तों को आशाभाई की अलौकिक निष्ठा तथा उनके सद्भाव का परिचय हुआ, उनके गुणगान करते हुए सब रवाना हुए।

उसके बाद कोयली में भी इन दोनों हरिभक्तों की प्रेरणा से अद्भुत समैया का आयोजन हुआ। स्वामीश्री शास्त्रीजी महाराज को हाथी की अंबारी पर बिठाकर सामैया (स्वागत) किया गया। उन्होंने रदु में भी एक महीने का पारायण बैठाकर सारे सत्संगी समाज को आमंत्रित किया था।

सच्चे हरिभक्तों की भगवान हमेशा कसौटी तो करते ही हैं। आशाभाई और ईश्वरभाई खेती में बहुत परिश्रम करते थे, जिसके फलस्वरूप फसल भी अच्छी होती थी। परन्तु कोई न कोई दैवी आपत्ति आ जाने के कारण बड़ा नुकसान होता था तथा इसके साथ ही ऋण भी बढ़ता जाता था। फिर भी उन्होंने कभी स्वामीश्री के पास इससे बचने के लिए कोई प्रार्थना नहीं की। निर्गुणदास एवं दूसरे भक्तगण कई बार स्वामीश्री से इसके लिए निवेदन किए; तो उसके उत्तर में स्वामीश्री केवल हँस देते थे।

सारंगपुर मन्दिर में मूर्तिप्रतिष्ठा का समय निकट था। स्वामीश्री रदु पधारे थे। उपर्युक्त दोनों भाई एवं मोतीभाई भी उनके साथ थे। रदु से एक कोस की दूरी पर पुरुषोत्तमपुरा में आशाभाई रहते थे। उनकी भूमि भी वहीं थी। साल की पूरी फसल - रूई, चना, गेहूँ का एक मकान में संग्रह था, वहाँ अचानक ही रूई के ढेर में जलती हुई दियासलाई पड़ी और आग लग गई। कुछ ही क्षणों में आग ने भयंकर रूप धारण कर लिया और उनकी सारी मालमिल्कियत उस आग में भस्म हो गई। किसी तरह जान बचाकर घर में से सारा परिवार भाग निकला। पहने हुए कपड़ों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचा।

यह समाचार रदु तक पहुँच गया। उसे सुनकर शास्त्रीजी महाराज और संतगण बहुत दुःखी हुए। आशाभाई को भी यह समाचार दिया गया। स्वामीश्री की पूर्ण कृपा और अपनी ज्ञानदृष्टि के कारण उनको इस बात का कोई शोक नहीं हुआ। बाद में स्वामीश्री की आज्ञा पाकर वे पुरुषोत्तमपुरा

गये। सब कुछ भस्मीभूत हो गया था। यह सर्वनाश देखकर यदि कोई दूसरा होता, तो उसकी धड़कने बंद हो जाती। वे समझ गये कि उनको परखने के लिए भगवान ने ही यह सब कुछ किया है। रद्दु से खिचडी मँगवाकर सब ने रात का भोजन किया।

दूसरे दिन शास्त्रीजी महाराज वहाँ पधारे। वहाँ का नुकसान देखकर उनके हृदय में बहुत दुःख हुआ। उन्होंने दोनों भाइयों को आश्वासन दिया। अभी भी कुछ और परीक्षा शेष हो, ऐसे लहजे में स्वामीश्री ने कहा, 'यह तो समझो हमारे ही कार्य में विघ्न आ गया। हमलोग तो सारंगपुर के मन्दिर के लिए मूर्तियाँ खरीदने जयपुर जाने को निकले हैं। पैसे लेने के लिए यहाँ आए, तो यह संकट आ पड़ा।'

ऐसी स्थिति में यदि किसी दूसरे से धन माँगा जाय, तो शायद उसमें अरुचि और अश्रद्धा पैदा हो जाय; लेकिन आशाभाई तो शास्त्रीजी की प्रत्येक बात तथा प्रत्येक आदेश को वेदवाक्य मानते थे। आपत्ति के समय में भी उनकी आज्ञा का पालन करने की उनकी इच्छा अद्भुत थी। तो फिर ऐसे अवसर को वे कैसे गँवा सकते थे? मोतीभाई के द्वारा किसी सराफ के यहाँ से आवश्यकता के अनुसार पैसे मँगवाये और स्वामीश्री के चरणों में अर्पित कर दिए।

स्वामीश्री चकित होकर आशाभाई की ओर देखने लगे। वे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन दोनों भाइयों को गले लगा लिया और वे बोले, 'ऐसी विषम स्थिति में भी यह सेवा! दूसरा कोई शायद ऐसा नहीं कर सकता।'

ऐसी कठियाइयों में भी जो आनन्द-सुख दे सकें, ऐसे समर्थ व्यक्ति ही ऐसी स्थिति में माँगने की हिम्मत कर सकते हैं। 'ऐसा अवसर भला कैसे टाला जा सकता है?' गद्गद आवाज़ में आशाभाई ने कहा।

निष्ठा और सेवा की कसौटी का यह अद्भुत उदाहरण सबने देखा। जो कसौटी करता है, वही रक्षा भी कर सकता है। इस विषम देशकाल में भी स्वामीश्री हमेशा उनकी सहायता करते थे।

आशाभाई का बड़ा लड़का देसाई वयस्क हो गया था। कई बार उसकी शादी के लिए पूछने पर भी स्वामीश्री मना करते रहे। चरागाह में काम करते हुए उसको सर्पदंश हुआ। उसके उपचार के लिए सभी ने दौड़धूप आरम्भ कर दी। परन्तु आशाभाई ने स्वामिनारायण मंत्र की धुन करने

को सबसे कहा। तीव्र सर्पदंश था। कुछ ही समय में वह धाम पधारेगा। आशाभाई के लिए यह भयानक आघात का अवसर था। लोगों के आश्वासन देने पर भी आशाभाई के हृदय में अशान्ति फैल ही गई।

बराबर पन्द्रह दिनों के बाद रात को एक बजे जबकि वे पलंग पर सोये हुए थे, कुछ सोच-विचार में थे। उतने में देसाई नज़दीक आकर, 'जय स्वामिनारायण' बोला। जाग्रत अवस्था में यह दृश्य देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने देसाई से पूछा, 'इस वक़्त तुम यहाँ कैसे ? अकेले हो ?'

'भगतजी महाराज भी साथ में हैं,' देसाई ने कहा।

तुरन्त भगतजी महाराज के दर्शन हुए।

भगतजी की कृपादृष्टि हुई, इससे आशाभाई के हृदय में शान्ति पैदा हुई। फिर तो भगतजी ने शास्त्रीजी महाराज की अपार महिमा की बातें कहीं और उनको प्रसन्न करने का आदेश देकर भगतजी अदृश्य हो गये।

पहले से ही आशाभाई को शास्त्रीजी महाराज के प्रति अपार प्रेम था ही। इस प्रसंग से उसमें ख़ूब दृढ़ता आ गई। अशान्ति तो मानो चली ही गई। दिनोंदिन उनका जीवन सत्संग धाम बनता गया। समैया और उत्सवों में वे सपरिवार सेवा में उपस्थित रहा करते थे। शास्त्रीजी महाराज गुजरात में विचरण करते हों, तब तो वे साथ ही रहते थे।

शास्त्रीजी महाराज की 80वीं जन्म-जयन्ती पर बोचासण में और 85वीं जन्म-जयन्ती तथा सुवर्ण जयन्ती के अवसर पर अटलादरा में मोतीभाई के साथ वे दोनों भाई सपरिवार सेवा में प्रमुख थे। उन दोनों भाइयों के संकल्प से शास्त्रीजी महाराज ने गढ़पुर में संगमरमर का मन्दिर बनवाने का निर्णय कर लिया था। इस मन्दिर का उत्तरदायित्व सौंपते हुए उन्होंने अन्त में कहा था, 'तुम लोग तो मुंबई के सेठ लोग जैसे हो। इस मन्दिर के निर्माण का काम तुम्हें ही पूरा करना पड़ेगा।'

शास्त्रीजी महाराज के अन्तर्धान होते ही समग्र सत्संग का उत्तरदायित्व योगीजी महाराज के सिर पर आ पड़ा। आशाभाई ने गृहस्थाश्रम में रहकर भी आजीवन सत्संग की सेवा करके, स्वामीजी की प्रसन्नता प्राप्त की थी। अब शास्त्रीजी महाराज द्वारा स्थापित 'बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था' एवं 'सत्संग समाज' के प्रति अपार भावना से प्रेरित

होकर उन्होंने आत्मसमर्पण का अलौकिक संकल्प किया। यह उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना है, इसमें कोई संदेह नहीं।

गृहस्थाश्रम में अनेक दुःख सहन करने के बाद आज उन्होंने अपने आँगन में रिद्धि-सिद्धि और सुख-सौभाग्य को लोटपोट होते हुए देखा। ज़मीन, जागीर और परिवार का विस्तार हो रहा था। जीवन के वैभवभरे इन अन्तिम वर्षों में व्यक्ति सुख और शान्ति भोगना चाहता है तथा मुसीबतों से बच निकलने का प्रयत्न करता है, तब इस महापुरुष ने कठिनाइयों का स्वागत किया। त्यागाश्रम, जिसमें कि शरीर और मन का दमन ही दमन करना है, ऐसे विकट मार्ग का आश्रय लिया। इतिहास और पुराणों में वर्णित राजाओं के त्याग को प्रत्यक्ष कर दिखाया। इस त्याग में विशेषता यह थी कि ये गुरुजी को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे।

स्वामीश्री शास्त्रीजी महाराज के अक्षरधामगमन के तुरन्त बाद अपनी 70 वर्ष की वय में आशाभाई ने योगीजी महाराज के वरद करकमलों से भागवती दीक्षा ली और 'यज्ञप्रियदास' नाम धारण किया। वे योगीजी महाराज के साथ ही सत्संग में विचरण करते थे और शास्त्रीजी महाराज के सौंपे हुए अनेक कार्यों में सहयोग देते थे। धीरे-धीरे वे सत्संग में 'मोटा स्वामी' के प्रिय नाम से पुकारे जाने लगे। गुजराती में 'मोटा' बड़े को कहते हैं, यानि बड़े स्वामी।

शास्त्रीजी महाराज के संपर्क से वे सत्संग के इतिहास एवं तत्त्वज्ञान संबंधी सिद्धान्तों की अनेक बातों के ज्ञाता थे। वही ज्ञान का भंडार उन्होंने खोल दिया। हजारों हरिभक्तों को कथावार्ता द्वारा उपदेश देकर प्रसन्न किया। योगीजी महाराज के साथ वे पूर्व अफ्रीका भी गए थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अटलादरा मन्दिर का शिखर, स्वर्ण-सिंहासन, सभामण्डप, दरवाजा और भोजनशाला जैसे आवश्यक सेवाकार्य करके मन्दिर को सजाया। शास्त्रीजी महाराज के शताब्दी महोत्सव तथा योगीजी महाराज के अमृतमहोत्सव जैसे ऐतिहासिक उत्सवों में उन्होंने सबको दर्शन दिये। उन्होंने 17 वर्ष तक सत्संग की अविरत सेवा की मानो अपना कार्य पूरा हो गया है, ऐसा मानकर उन्होंने अपनी लीला समाप्त की। उनके जीवनसौरभ से सारे सत्संग को यह प्रतीति हुई कि उसमें मानो राजा रन्तिदेव प्रकट हुए थे।

